

Chapter अट्टाईस

भक्ति साधना के लिए कपिल के आदेश

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।

मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगस्य—योग पद्धति का; लक्षणम्—वर्णन; वक्ष्ये—कहूँगा; सबीजस्य—प्रामाणिक; नृप-आत्म-जे—हे राजपुत्री; मनः—मन; येन—जिससे; एव—निश्चय ही; विधिना—अभ्यास से; प्रसन्नम्—प्रसन्न; याति—प्राप्त करता है; सत्-पथम्—परम सत्य का मार्ग।

भगवान् ने कहा : हे माता, हे राजपुत्री, अब मैं आपको योग विधि बताऊँगा जिसका उद्देश्य मन को केन्द्रित करना है। इस विधि का अभ्यास करने से मनुष्य प्रसन्न रहकर परम सत्य के मार्ग की ओर अग्रसर होता है।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कपिलदेव द्वारा बताई गई योग विधि प्रामाणिक एवं आदर्श है, अतः इन आदेशों का अत्यन्त सावधानी के साथ पालन करना चाहिए। सबसे पहले भगवान् कहते हैं कि योगाभ्यास से मनुष्य परम सत्य अर्थात् परम पुरुषोत्तम भगवान् को समझने की दिशा में प्रगति कर सकता है। पिछले अध्याय में यह स्पष्ट बताया गया है कि योग का अभीष्ट कोई आश्चर्यजनक योगशक्ति प्राप्त करना नहीं है। मनुष्य को ऐसी योगशक्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु भगवान् को समझने के मार्ग का क्रमशः साक्षात्कार प्राप्त करना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है, जिसमें छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि सबसे बड़ा योगी वह है, जो अपने अन्तःकरण में निरन्तर कृष्ण के बारे में ही सोचता रहता है या जो कृष्णभावनाभावित है।

यहाँ उल्लेख हुआ है कि योग विधि का पालन करने से मनुष्य प्रफुल्लित रह सकता है। भगवान् कपिल, जो योग के महान् अधिकारी हैं, यहाँ पर योगपद्धति की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिसे अष्टांग-योग कहते हैं जिसमें आठ विभिन्न अभ्यास सम्मिलित हैं। ये हैं—*यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान* तथा *समाधि*। अभ्यास की इन समस्त अवस्थाओं से मनुष्य को भगवान् विष्णु का साक्षात्कार करना होता है, जो समस्त योग का लक्ष्य है। ऐसी

तथाकथित योग पद्धतियाँ हैं जिनमें मन को शून्य पर या निराकार पर केन्द्रित किया जाना होता है, किन्तु प्रामाणिक योग पद्धति में इसको मान्यता प्राप्त नहीं है जैसाकि कपिलदेव बताते हैं। यहाँ तक कि पतञ्जलि बतलाते हैं कि समस्त योग का लक्ष्य विष्णु है। अतः अष्टांग-योग वैष्णव विधि का एक अंग है, क्योंकि इसका चरम लक्ष्य विष्णु का साक्षात्कार है। योग की सफलता योगशक्ति प्राप्त करने में नहीं है, जिसकी भर्त्सना पिछले अध्याय में की गई है, अपितु समस्त उपाधियों एवं स्वाभाविक स्थिति की परिस्थिति से मुक्त होना है। योगाभ्यास की यही अनन्तिम उपलब्धि है।

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।

दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविचरणार्चनम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-आचरणम्—अपने कर्तव्यों का पालन; शक्त्या—अपनी शक्ति भर; विधर्मात्—शास्त्रविरुद्ध कर्तव्य से; च—तथा; निवर्तनम्—बचते हुए; दैवात्—भगवान् की कृपा से; लब्धेन—जो कुछ प्राप्त हो उससे; सन्तोषः—संतुष्ट; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध जीव के; चरण—पाँव की; अर्चनम्—पूजा।

मनुष्य को चाहिए कि वह यथाशक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करे और उन कर्मों को करने से बचे, जो उसे नहीं करने हैं। उसे ईश्वर की कृपा से जो भी प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए और गुरु के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनकी विशद व्याख्या की जा सकती है, किन्तु हम हर एक के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की ही व्याख्या करेंगे। अन्तिम कथन है आत्मविचरणार्चनम्। आत्मवित् का अर्थ है स्वरूपसिद्ध जीव या प्रामाणिक गुरु। जब तक मनुष्य स्वरूपसिद्ध नहीं रहता और परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं जानता, वह प्रामाणिक गुरु नहीं बन सकता। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्रामाणिक गुरु की खोज करके उसकी शरण में (अर्चनम्) जाना चाहिए, क्योंकि उससे जिज्ञासा करके तथा उसकी पूजा करके वह आध्यात्मिक कार्यों को सीख सकता है।

पहली संस्तुति है स्वधर्माचरणम्। जब तक हम यह शरीर धारण किये हुए हैं तब तक हमारे लिए कुछ कर्मों की संस्तुति की गई है। ऐसे कर्मों को चार सामाजिक श्रेणियों में बाँट

दिया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन विशिष्ट कर्मों का उल्लेख शास्त्रों में, विशेष रूप से *भगवद्गीता* में मिलता है। स्वधर्माचरणम् का अर्थ है कि मनुष्य को समाज के विशेष वर्ग के लिए संस्तुत कर्मों का पालन श्रद्धापूर्वक तथा शक्ति भर करना चाहिए। उसे किसी दूसरे का कर्म अपने ऊपर नहीं ओढ़ लेना चाहिए। यदि वह किसी विशेष समाज या जाति में उत्पन्न हुआ है, तो उसे उसके संस्तुत कर्मों का पालन करना चाहिए। किन्तु यदि कोई इतना भाग्यशाली है कि वह आध्यात्मिक पहचान के स्तर तक उठकर समाज या जाति-विशेष में जन्म की उपाधि से ऊपर उठ जाता है तब उसका स्वधर्म या कर्म एकमात्र भगवान् की सेवा रह जाता है। जो कृष्णभक्ति में उन्नत है उसका वास्तविक कर्म भगवान् की सेवा करना है। जब तक वह देहात्मबुद्धि में रहा आता है तब तक वह सामाजिक परिपाटी के अनुसार कर्म करता है, किन्तु आध्यात्मिक पद तक उठ जाने पर उसे केवल भगवान् की सेवा करनी चाहिए। यही स्वधर्म का वास्तविक कार्यान्वयन है।

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।

मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ग्राम्य—परम्परागत; धर्म—धार्मिक प्रथा; निवृत्ति:—समाप्ति; च—तथा; मोक्ष—मोक्ष के लिए; धर्म—धार्मिक प्रथा; रति:—अनुरक्ति; तथा—उसी तरह; मित—कुछ; मेध्य—शुद्ध; अदनम्—भोजन करना; शश्वत्—सदैव; विविक्त—एकान्त; क्षेम—शान्तिपूर्ण; सेवनम्—घर।

मनुष्य को चाहिए कि परम्परागत धार्मिक प्रथाओं का परित्याग कर दे और उन प्रथाओं में अनुरक्त हो जो मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाली हैं। उसे स्वल्प भोजन करना चाहिए और सदैव एकान्तवास करना चाहिए जिससे उसे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त हो सके।

तात्पर्य : यहाँ संस्तुति की गई है कि आर्थिक विकास अथवा ऐन्द्रिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए धार्मिक कार्यों से बचना चाहिए। प्रकृति के चंगुल से मुक्ति पाने के लिए ही धार्मिक कार्यों को कार्यान्वित किया जाय। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि सर्वश्रेष्ठ धार्मिक प्रथा वह है, जिससे अकारण ही भगवान् की दिव्य भक्ति प्राप्त की जा सके। ऐसी

धार्मिक प्रथा अबाध रूप से चलती है और इसके पालन से मनुष्य सचमुच संतुष्ट हो जाता है। यहाँ पर इसकी संस्तुति मोक्ष-धर्म के रूप में की गई है, जिसका अर्थ है मोक्ष के लिए या भौतिक कल्मष से छूटने के लिए धार्मिक अभ्यास। सामान्यतया लोग आर्थिक विकास या इन्द्रियतृप्ति के लिए धार्मिक कार्यों का पालन करते हैं, किन्तु जो लोग योग में प्रगति करना चाहते हैं उनके लिए इसकी संस्तुति नहीं की जाती।

अगला महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है *मितमेध्यादनम्* जिसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य को बहुत कम खाना चाहिए। वैदिक साहित्य में आदेश है कि योगी अपनी भूख का केवल आधा खाये। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई इतना भूखा है कि एक पौंड (लगभग आधा सेर) खा सकता है, तो उसे चाहिए कि वह केवल आधा पौंड ग्रहण करे और उसके साथ चार औंस (आधा पाव) पानी पिये, चौथाई पेट वायु के आने जाने के लिए खाली रखे। यदि इस प्रकार से भोजन किया जाय तो न तो अपच होगा और न कोई रोग। योगी को *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य शास्त्रों में बताई गई विधि के अनुसार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। योगी को एकान्त स्थान में रहना चाहिए जहाँ योगाभ्यास में कोई बाधा न पहुँचे।

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्यनिष्ठा; अस्तेयम्—चोरी न करना; यावत्—अर्थ—आवश्यकतानुसार; परिग्रहः—संग्रह; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यं व्रत; तपः—तपस्या; शौचम्—स्वच्छता; स्व-अध्यायः—वेदों का अध्ययन; पुरुष-अर्चनम्—भगवान् की पूजा।

मनुष्य को चाहिए कि अहिंसा तथा सत्य का आचरण करे, चोरी से बचे और अपने निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही संग्रह करे। वह विषयी जीवन से बचे, तपस्या करे, स्वच्छ रहे, वेदों का अध्ययन करे और भगवान् के परमस्वरूप की पूजा करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुरुषार्चनम्* शब्द का अर्थ है भगवान् की पूजा करना, विशेष रूप से भगवान् कृष्ण के स्वरूप की। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने पुष्टि की है कि कृष्ण ही मूल

पुरुष—*पुरुषम् शाश्वतम्*—हैं। इसलिए योगाभ्यास करते समय मनुष्य को अपना मन न केवल कृष्ण के स्वरूप में केन्द्रित करना चाहिए, अपितु कृष्ण के विग्रह या स्वरूप की नित्य पूजा भी करनी चाहिए।

ब्रह्मचारी विषयी जीवन पर नियन्त्रण रखता है और ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है। अनियन्त्रित विषयी जीवन बिताते हुए मनुष्य योग का अभ्यास नहीं कर सकता। यह तो धूर्तता है। तथाकथित योगी यह विज्ञापित करते हैं कि वे इच्छानुसार भोग करने के साथ ही साथ योगी भी बने रह सकते हैं, किन्तु यह सर्वथा अप्रामाणिक है। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्यम् का अर्थ है मनुष्य ब्रह्म के साथ सम्बन्ध में या कृष्णभक्ति में ही जीवन बिताता है। लोग विषयी जीवन में अनुरक्त रहते हैं, वे उन विधानों का पालन नहीं करते जो उन्हें कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर कर सके। विषयी जीवन तो विवाहितों तक ही सीमित रहना चाहिए। जो व्यक्ति विवाह के बाद सीमित विषयी जीवन बिताता है, वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है।

योगी के लिए *अस्तेयम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है “चोरी न करना।” व्यापक अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति, जो आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है, चोर है। आध्यात्मिक साम्यवाद के अनुसार कोई अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता से अधिक नहीं रख सकता। यही प्रकृति का नियम है। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन या सम्पत्ति एकत्र करता है, वह चोर है और जो यज्ञ अथवा श्रीभगवान् की पूजा में व्यय किये बिना धन का केवल संग्रह करता जाता है, वह और भी बड़ा चोर है।

स्वाध्यायः का अर्थ “प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों का अध्ययन” है। यदि कोई कृष्ण का भक्त नहीं होता और योग-पद्धति का अभ्यास करता है, तो उसे चाहिए कि ज्ञान के लिए आदर्श वैदिक साहित्य पढ़े। केवल योग सम्पन्न करना पर्याप्त नहीं है। परम भक्त तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं कि सारे आध्यात्मिक कार्यकलाप तीन साधनों से जाने जाते हैं—साधु पुरुष, आदर्श शास्त्र तथा गुरु से। आध्यात्मिक जीवन में प्रगति

करने के लिए ये तीनों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक हैं। भक्तियोग के सम्पादन हेतु गुरु आदर्श साहित्य की संस्तुति करता है और वह स्वयं शास्त्रों के उद्धरण देता हुआ बोलता है। अतः योग साधने के लिए आदर्श शास्त्रों को पढ़ना अनिवार्य है। आदर्श साहित्य पढ़े बिना योगाभ्यास समय का अपव्यय मात्र है।

मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः ।

प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मौनम्—मौन, मूकता; सत्—अच्छा; आसन—योग के आसन; जयः—वश में करते हुए; स्थैर्यम्—स्थिरता; प्राण-जयः—प्राणवायु को साधना; शनैः—धीरे-धीरे; प्रत्याहारः—निकालना; च—तथा; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों का; विषयात्—विषयों से; मनसा—मन से; हृदि—हृदय में।

मनुष्य को इन विधियों अथवा अन्य किसी सही विधि से अपने दूषित तथा चंचल मन को वश में करना चाहिए, जिसे भौतिक भोग के द्वारा सदैव आकृष्ट किया जाता रहता है और इस तरह अपने आप को भगवान् के चिन्तन में स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : सामान्य रूप से योगाभ्यास तथा विशेष रूप से 'हठयोग' स्वयं में अभीष्ट नहीं होते, ये स्थिरता प्राप्त करने की दिशा में साधनस्वरूप हैं। सर्वप्रथम मनुष्य को ठीक से आसन लगाने में सक्षम होना चाहिए। तभी योगाभ्यास के लिए मन तथा ध्यान स्थिर हो सकेंगे। धीरे-धीरे मनुष्य को प्राणवायु के आवागमन को नियन्त्रित करना चाहिए। इस तरह वह इन्द्रियों को विषयों से दूर खींच सकेगा। पिछले श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इन्द्रियनिग्रह का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू विषयी जीवन पर नियन्त्रण है। यह ब्रह्मचर्य कहलाता है। विभिन्न आसनों के अभ्यास तथा प्राणवायु के नियन्त्रण द्वारा असीमित इन्द्रियभोग से इन्द्रियों का निरोध किया जा सकता है।

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।

वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्व-धिष्ययानाम्—प्राणचक्रों के भीतर; एक-देशे—एक स्थान में; मनसा—मन से; प्राण—प्राणवायु; धारणम्—स्थिर करना; वैकुण्ठ-लीला—श्रीभगवान् की लीलाओं में; अभिष्यानम्—ध्यान; समाधानम्—समाधि; तथा—इस तरह; आत्मनः—मन की।

शरीर के भीतर के षट्चक्रों में से किसी एक में प्राण तथा मन को स्थिर करना और इस प्रकार से अपने मन को भगवान् की दिव्य लीलाओं में केन्द्रित करना समाधि या मन का समाधान कहलाता है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर प्राणवायु के आवागमन के छः चक्र हैं। पहला चक्र उदर के नीचे, दूसरा हृदय-प्रदेश में, तीसरा फेफड़ों के पास, चौथा तालू में, पाँचवाँ भौंहों के बीच में तथा सर्वोच्च छठा चक्र मस्तिष्क के ऊपर है। मनुष्य को अपने मन तथा प्राणवायु के आवागमन को स्थिर करके भगवान् की दिव्य लीलाओं का चिन्तन करना होता है। इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है कि मनुष्य अपने को निराकार या शून्य में केन्द्रित करे। स्पष्ट उल्लेख है—वैकुण्ठ-लीला। जब तक परम सत्य श्रीभगवान् की लीलाएँ दिव्य न हों तब तक उनके विषय में चिन्तन के लिए गुंजाईश कहाँ? भगवान् की भक्ति, कीर्तन तथा लीलाओं के श्रवण के द्वारा ही यह ध्यान (एकाग्रता) प्राप्त किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* में वर्णन आया है कि भगवान् विभिन्न भक्तों के साथ अपने सम्बन्धों के अनुसार प्रकट और अन्तर्धान होते रहते हैं। वैदिक साहित्य में भगवान् की लीलाओं की अनेक कथाएँ पाई जाती हैं जिनमें कुरुक्षेत्र का युद्ध तथा भक्तों—यथा प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज तथा अम्बरीष महाराज—के जीवन तथा उपदेश सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य सम्मिलित हैं। मनुष्य को इनमें से किसी कथा में अपने मन को केन्द्रित करने और इसके विचार में तल्लीन रहने की आवश्यकता होती है। तब वह समाधि में पहुँच जाता है। समाधि कोई कृत्रिम शारीरिक अवस्था नहीं, यह वह अवस्था है, जो मन द्वारा श्रीभगवान् के विचारों में तल्लीन हो जाने पर प्राप्त होती है।

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्यथम् ।

बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इनसे; अन्यैः—दूसरे से; च—यथा; पथिभिः—विधियों से; मनः—मन; दुष्टम्—कलुषित; असत्-पथम्—सांसारिक भोग के पथ पर; बुद्ध्या—बुद्धि से; युञ्जीत—वश में करना चाहिए; शनकैः—धीरे-धीरे; जित-प्राणः—प्राणवायु को स्थिर करके; हि—निस्सन्देह; अतन्द्रितः—सतर्क ।

इन विधियों से या अन्य किसी सही विधि से मनुष्य को अपने दूषित तथा भौतिक भोग के द्वारा सदैव आकृष्ट होने वाले चंचल मन को वश में करना चाहिए और इस तरह अपने आपको भगवान् के चिन्तन में स्थिर करना चाहिए ।

तात्पर्य : एतैरन्यैश्च। सामान्य योगक्रिया में विधि-विधानों का पालन, विभिन्न आसनों का अभ्यास, प्राणवायु चक्र में मन को केन्द्रित करना तथा भगवान् का उनकी वैकुण्ठ लीलाओं में चिन्तन करना सम्मिलित हैं। यह योग की सामान्य विधि है। यही एकाग्रता (ध्यान) अन्य संस्तुत विधियों से भी प्राप्त की जा सकती है, अतः अन्यैश्च शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुख्य बात यह है कि भौतिक आसक्ति के कारण कल्मषग्रस्त मन को वश में करके उसे पूर्ण परुषोत्तम भगवान् में स्थिर करना होता है। इसे ऐसी किसी वस्तु पर जो शून्य या निराकार हो स्थिर नहीं किया जा सकता। इसी कारण से किसी मानक योग-शास्त्र में शून्यवाद तथा निर्विशेषवाद की तथाकथित योग विधियों की संस्तुति नहीं की गई है। वास्तविक योगी तो भक्त है, क्योंकि उसका मन सदैव भगवान् कृष्ण की लीलाओं में केन्द्रित रहता है। फलतः कृष्णभक्ति सर्वोच्च योगपद्धति है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।

तस्मिन्स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

शुचौ देशे—पवित्र स्थान में; प्रतिष्ठाप्य—स्थापित करके; विजित-आसनः—आसनों को वश में करते हुए; आसनम्—आसन, स्थान; तस्मिन्—उस स्थान में; स्वस्ति समासीनः—आरामदेह आसन में बैठे हुए; ऋजु-कायः—शरीर को सीधा रखते हुए; समभ्यसेत्—अभ्यास करना चाहिए।

अपने मन तथा आसनों को वश में करने के बाद मनुष्य को चाहिए कि किसी एकान्त तथा पवित्र स्थान में अपना आसन बिछा दे, उस पर शरीर को सीधा रखते हुए सुखपूर्वक आसीन होकर श्वास नियन्त्रण (प्राणायाम) का अभ्यास करे।

तात्पर्य : सुखपूर्वक आसीन होने को स्वस्ति समासीनः कहते हैं। योगशास्त्र में संस्तुति है

कि दोनों जाँघों तथा घुटनों के बीच पाँव के तलवे रख कर सीधा बैठा जाय, इस आसन से भगवान् में मन को केन्द्रित करने में सुविधा होगी। *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में इसी विधि की संस्तुति की गई है। यह भी सुझाव दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह किसी एकान्त पवित्र स्थान में बैठे। उसका आसन मृगछाला तथा *कुश* का हो जिसके ऊपर सूती वस्त्र हो।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।

प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्राणस्य—प्राणवायु के; शोधयेत्—स्वच्छ करे; मार्गम्—रास्ते को; पूर-कुम्भक-रेचकैः—श्वास खींचकर, रोककर तथा निकालकर; प्रतिकूलेन—उलटने से; वा—अथवा; चित्तम्—मन को; यथा—जिसमें; स्थिरम्—स्थिर, स्थायी; अचञ्चलम्—अवरोधों से युक्त।

योगी को चाहिए कि प्राणवायु के मार्ग को निम्नलिखित विधि से श्वास लेकर इस प्रकार से स्वच्छ करे—पहले बहुत गहरी श्वास अंदर ले, फिर उस श्वास को धारण किये रहे और अन्त में श्वास बाहर निकाल दे। या फिर इस विधि को उलट कर योगी पहले श्वास निकाले, फिर श्वास रोके रखे और अन्त में श्वास भीतर ले जाय। ऐसा इसलिए किया जाता है, जिससे मन स्थिर हो और बाहरी अवरोधों से मुक्त हो सके।

तात्पर्य : ये प्राणायाम मन को नियन्त्रित करने तथा उसे भगवान् में स्थिर करने के लिए किये जाते हैं। *स वै मनःकृष्णपदारविन्दयोः*—भक्त अम्बरीष महाराज चौबीसों घण्टे अपना मन कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर रखते थे। कृष्णभावनामृत की विधि में हरे कृष्ण कीर्तन किया जाता है और शब्द को ध्यानपूर्वक सुना जाता है, जिससे मन कृष्ण के नाम की दिव्य ध्वनि में स्थिर हो जाता है और यह नाम कृष्ण के व्यक्तित्व से अभिन्न है। प्राणवायु के मार्ग को स्वच्छ करने की संस्तुत विधि द्वारा मन को वश में करने का वास्तविक प्रयोजन तुरन्त ही प्राप्त हो जाता है यदि मनुष्य अपने मन को सीधे भगवान् के चरणकमलों में स्थिर कर देता है। हठयोग या प्राणायाम की विधि उन लोगों के लिए है, जो देहात्मबुद्धि में अत्यधिक तल्लीन रहते हैं, किन्तु जो केवल हरे कृष्ण का कीर्तन कर सकता है, वह अधिक सुगमतापूर्वक मन को स्थिर

कर सकता है।

श्वास मार्ग को स्वच्छ करने की तीन भिन्न विधियाँ बताई गई हैं— पूरक, कुम्भक तथा रेचक। श्वास भीतर ले जाना पूरक कहलाता है, उसे भीतर रोके रखना कुम्भक है और श्वास को बाहर निकालना रेचक है। इन विधियों को उलट कर भी किया जा सकता है। श्वास निकालने के बाद वायु को कुछ काल तक बाहर रखने के बाद पुनः श्वास को भीतर ले जाया जाय। जिन नाड़ियों के द्वारा श्वास लेने तथा श्वास छोड़ने की क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, वे इड़ा तथा पिंगला कहलाती हैं। इड़ा तथा पिंगला को स्वच्छ (मार्जन) करने का चरम उद्देश्य मन को भौतिक सुखोपभोग से मोड़ना है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—मन ही मनुष्य का शत्रु है और मित्र है, इसकी स्थिति जीव के साथ भिन्न-भिन्न आचरणों के अनुसार बदलती रहती है। यदि हम अपने मन को भौतिक भोगों की ओर मोड़ते हैं, तो हमारा मन हमारा शत्रु बन जाता है, किन्तु यदि हम अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में केन्द्रित करते हैं, तो मन हमारा मित्र बन जाता है। चाहे पूरक, कुम्भक तथा रेचक की योग-पद्धति हो या कि कृष्ण शब्द (नाम) या कृष्ण के स्वरूप पर मन को स्थिर करना हो, इनसे एक ही उद्देश्य की प्राप्ति होती है। *भगवद्गीता* (८.८) में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि प्राणायाम करे (*अभ्यासयोगयुक्तेन*)। इन नियन्त्रण विधियों से मन बाहरी विचारों की ओर नहीं जाएगा (*चेतसा नान्यगामिना*)। इस प्रकार वह निरन्तर अपने मन को भगवान् में स्थिर करके उन्हें प्राप्त कर सकता है (*याति*)।

इस युग में आसन तथा श्वास नियन्त्रण की योग-पद्धति का अभ्यास कर सकना मनुष्य के लिए दुष्कर है। अतः भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है—*कीर्तनीयःसद-हरिः*—मनुष्य को चाहिए कि सदैव सर्वाधिक उपयुक्त कृष्ण के पवित्र नाम का जप करे। कृष्ण-नाम तथा परम पुरुष कृष्ण अभिन्न हैं। अतः यदि कोई हरे कृष्ण के सुनने तथा कीर्तन करने में मन को केन्द्रित करता है, तो समान फल प्राप्त होता है।

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।

वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; अचिरात्—शीघ्र ही; स्यात्—हो सकता है; विरजम्—उद्वेगों से मुक्त; जित-श्वासस्य—जिसने श्वास पर विजय पा ली है; योगिनः—योगी का; वायु-अग्निभ्याम्—वायु तथा अग्नि से; यथा—जिस प्रकार; लोहम्—स्वर्ण; ध्मातम्—हवा किये जाने पर; त्यजति—मुक्त हो जाता है; वै—निश्चय ही; मलम्—अशुद्धि से।

जो योगी ऐसे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, वे तुरन्त समस्त मानसिक उद्वेगों से उसी तरह मुक्त हो जाते हैं जिस प्रकार हवा की फुहार से अग्नि में रखा सोना सारी अशुद्धियों से रहित हो जाता है।

तात्पर्य : मन शुद्ध करने की इस विधि की संस्तुति भगवान् चैतन्य ने भी की है। उनका कहना है कि मनुष्य को हरे कृष्ण कीर्तन करना चाहिए। वे आगे कहते हैं कि *परं विजयते* “श्रीकृष्ण कीर्तन की जय हो।” कृष्ण के पवित्र नामों के कीर्तन की जय बोली जाती है, क्योंकि ज्यों ही कोई कीर्तन करना चालू करता है कि जमी हुई मैल से मन शुद्ध हो जाता है। *चेतो-दर्पणमार्जनम्*—भगवान् कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से मनुष्य के मन में एकत्र होने वाला मैल साफ हो जाता है। मनुष्य अपने मन को या तो प्राणायाम के द्वारा या कि कीर्तन विधि से शुद्ध कर सकता है, जिस प्रकार अग्नि में रखकर धौंकनी से धौंकने पर सोना शुद्ध हो जाता है।

प्राणायामैर्दहेदोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान् ।

प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

प्राणायामैः—प्राणायाम के अभ्यास से; दहेत्—समूल नष्ट कर सकता है; दोषान्—कल्मषों को; धारणाभिः—मन को केन्द्रित करने से; च—यथा; किल्बिषान्—पाप कर्म; प्रत्याहारेण—इन्द्रियों को रोकने से; संसर्गान्—भौतिक संगति; ध्यानेन—ध्यान करने से; अनीश्वरान् गुणान्—भौतिक प्रकृति के गुणों को।

प्राणायाम विधि के अभ्यास से मनुष्य अपने शारीरिक दोषों को समूल नष्ट कर सकता है और अपने मन को एकाग्र करने से वह सारे पापकर्मों से मुक्त हो सकता है। इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य भौतिक संसर्ग से अपने को मुक्त कर सकता है और भगवान् का ध्यान करने से वह भौतिक आसक्ति के तीनों गुणों से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : आयुर्विज्ञान के अनुसार कफ, पित्त तथा वायु शरीर की दैहिक अवस्था को बनाये रखते हैं। आधुनिक ओषधि विज्ञान इस दैहिक अवस्था को वैध नहीं मानता, किन्तु प्राचीन आयुर्वेदिक विधि से जो उपचार किया जाता है, वह इन्हीं तीन तत्त्वों पर निर्भर है जिनका उल्लेख *भागवत* में कई स्थानों पर शरीर की मूल दशाओं के रूप में पाया जाता है। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्राणायाम विधि के अभ्यास से मनुष्य प्रमुख दैहिक तत्त्वों से उत्पन्न कल्मष से मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार मन को एकाग्र करने से पाप-कर्मों से छूट सकता है और इन्द्रियों का निग्रह कर लेने पर मनुष्य भौतिक संगति से अपने को मुक्त कर सकता है।

अन्ततः मनुष्य को भगवान् का चिन्तन करना होता है, जिससे वह इस दिव्य स्थिति तक ऊपर उठ सके जहाँ उसे प्रकृति के तीनों गुण और अधिक नहीं सताते। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि जो विशुद्ध भक्ति करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार कर जाता है और तुरन्त ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। *सगुणान् समातीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*। योग पद्धति की प्रत्येक क्रिया के लिए भक्तियोग में सदृश क्रिया पाई जाती है, किन्तु इस युग के लिए भक्तियोग अधिक सुगम है। भगवान् चैतन्य ने जो कुछ सूत्रपात किया वह नवीन व्याख्या नहीं है। भक्तियोग एक संभाव्य विधि है, जिसका शुभारम्भ कीर्तन तथा श्रवण से होता है। भक्तियोग तथा अन्य योगों का अन्तिम लक्ष्य एक ही श्रीभगवान् हैं, किन्तु इनमें से एक व्यावहारिक है और दूसरे कठिन हैं। मन की एकाग्रता तथा इन्द्रियों के संयम द्वारा मनुष्य को अपनी दैहिक अवस्था शुद्ध करनी होती है, तभी वह भगवान् पर अपना चित्त स्थिर कर सकता है। यही *समाधि* कहलाती है।

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।

काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; मनः—मन; स्वम्—अपने से; विरजम्—शुद्ध; योगेन—योगाभ्यास से; सु-समाहितम्—वशीभूत, नियंत्रित; काष्ठां—पूर्ण अंश; भगवतः—श्रीभगवान् का; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; स्व-नासा-अग्र—अपनी नाक का अग्रभाग; अवलोकनः—देखते हुए।

जब इस योगाभ्यास से मन पूर्णतया शुद्ध हो जाय, तो मनुष्य को चाहिए कि अधखुलीं आँखों से नाक के अग्रभाग में ध्यान को केन्द्रित करे और भगवान् के स्वरूप को देखे।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्य को विष्णु के अंश का ध्यान करना चाहिए। *काष्ठाम्* शब्द परमात्मा अर्थात् विष्णु के अंश के अंश का सूचक है। *भगवतः* भगवान् विष्णु के लिए आया है। परमेश्वर तो कृष्ण हैं; उनसे पहला विस्तार बलदेव के रूप में होता है, फिर बलदेव से संकर्षण, अनिरुद्ध तथा अन्य रूप आते हैं और अन्त में पुरुष-अवतार आता है। जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णन आया है (*पुरुषार्चनम्*) यह पुरुष परमात्मा के रूप में अंकित हुआ है। परमात्मा का वर्णन अगले श्लोकों में किया जाएगा। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को अपनी नाक के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करके अपने मन को कला या विष्णु के पूर्ण अंश में एकाग्र करना चाहिए।

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।

नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रसन्न—प्रसन्न; वदन—मुख; अम्भोजम्—कमलवत्; पद्म-गर्भ—कमल का भीतरी भाग; अरुण—लाल; ईक्षणम्—आँखों से; नील-उत्पल—नील कमल; दल—पंखड़ियाँ; श्यामम्—श्याम रंग की; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; धरम्—धारण किये हुए।

भगवान् का मुख उत्फुल्ल कमल के समान है और लाल लाल आँखें कमल के कोश (भीतरी भाग) के समान हैं। उनका श्यामल शरीर नील कमल की पंखड़ियों के समान है। वे अपने तीन हाथों में शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण किये हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह निश्चित रूप से संस्तुति की गई है कि मन को विष्णु के रूप पर एकाग्र किया जाय। विष्णु के बारह भिन्न-भिन्न रूप हैं जिनका वर्णन *चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* में दिया हुआ है। शून्य या निराकार पर मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता; मन को भगवान् के सगुण रूप में एकाग्र करना चाहिए जिनका मुख-मंडल प्रसन्न हो, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। *भगवद्गीता* का कथन है कि ध्यानकर्ता के लिए निराकार या शून्य रूप

का ध्यान कष्टप्रद है। जो लोग निराकार या शून्य का ध्यान करने में अनुराग रखते हैं उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि लोग किसी निराकार वस्तु में ध्यान एकाग्र करने के अभ्यस्त नहीं हैं। वस्तुतः ऐसी एकाग्रता सम्भव भी नहीं है। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि भगवान् पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाय।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण का रंग *नीलोत्पल दल* के समान बताया है, जिसका अर्थ है कि यह उस कमल पुष्प के समान है, जिसकी पंखुड़ियाँ नीली तथा श्वेत हैं। लोग प्रायः पूछते हैं कि कृष्ण का रंग श्याम (नीला) क्यों है? भगवान् का रंग किसी कलाकार की कल्पना नहीं है। इसका वर्णन प्रामाणिक शास्त्रों में हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* में भी कृष्ण के शरीर की तुलना नीले (श्याम) बादल से की गई है। भगवान् का रंग काव्यात्मक कल्पना नहीं है। भगवान् के शरीर, उनके आयुधों तथा अन्य साज के विषय में *ब्रह्म-संहिता*, *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* तथा कई पुराणों में प्रामाणिक वर्णन मिलते हैं। भगवान् की आकृति यहाँ पर *पद्मगर्भारुणेक्षणम्* जैसी बताई गई है। उनके नेत्र कमल-कोश के समान हैं और अपनी चारों भुजाओं में वे चार चिह्न शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प धारण किये हैं।

लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

लसत्—चमकता हुआ; पङ्कज—कमल के; किञ्जल्क—तन्तु; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वाससम्—जिनका वस्त्र; श्रीवत्स—श्रीवत्स चिह्न से युक्त; वक्षसम्—वक्षस्थल; भ्राजत्—प्रकाशमान; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; आमुक्त—पहने हुए; कन्धरम्—गला।

उनकी कटि पीले पद्म-केशर के सदृश चमकदार वस्त्र से आवरित है। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न (श्वेत बालों का गुच्छा) है। उनके गले में चमचमाती कौस्तुभ मणि लटक रही है।

तात्पर्य : भगवान् के वस्त्र का असली रंग केसरिया पीला है, जो कमल पुष्प के केसर के समान है। उनके वक्षस्थल पर लटकती हुई कौस्तुभ मणि का भी वर्णन हुआ है। उनका गला रत्नों तथा मोतियों से सुशोभित है। भगवान् षडैश्वर्य से परिपूर्ण हैं, जिसमें से एक है धन। वे

ऐसे अमूल्य मणि धारण किये हैं, जो इस जगत में दृष्टिगोचर नहीं होते।

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।

परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदन्तूपुरम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मत्त—मतवाले; द्वि-रेफ—भौरों से; कलया—गुंजार करते; परीतम्—हार पहने; वन-मालया—वन के फूलों की माला से; परार्ध्य—अमूल्य; हार—मोती की माला; वलय—कंकण; किरीट—मुकुट; अङ्गद—बाजूबंद; नूपुरम्—नूपुर।

वे अपने गले में वनपुष्पों की आकर्षक माला भी धारण करते हैं जिसकी सुगन्धि से मतवाले भौरों के झुंड माला के चारों ओर गुंजार करते हैं। वे मोती की माला, मुकुट, एक जोड़ी कंकण, बाजूबंद तथा नूपुर से अत्युत्तम ढंग से सुसज्जित हैं।

तात्पर्य : इस वर्णन से लगता है कि भगवान् की फूलों की माला ताजी है। वास्तव में वैकुण्ठ में सर्वत्र ताजगी ही ताजगी रहती है। यहाँ तक कि वृक्षों से तोड़े गये फूल भी ताजे बने रहते हैं, क्योंकि वैकुण्ठ की प्रत्येक वस्तु अपनी मौलिकता बनाये रखती है और वह मुरझाती नहीं। इन वृक्षों से तोड़े गये फूलों से बनाई गई माला मुरझाती नहीं, क्योंकि वृक्ष तथा फूल दोनों ही दिव्य होते हैं। जब फूल को वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, तो वह जैसे का तैसा बना रहता है, अपनी सुगन्ध नहीं खोता। भौरै (मधुमक्खियाँ) पुष्पों के प्रति समान रूप से आकर्षित होते हैं चाहे वे माला (हार) में हों या वृक्ष में लगे हों। दिव्यता की विशिष्टता यह है कि हर वस्तु शाश्वत और अक्षय है। किसी वस्तु से कोई वस्तु निकालने पर कोई न कोई वस्तु बनी रहता है अथवा जैसाकि लोग कहते हैं कि वैकुण्ठ में से एक में एक घटाने पर एक बचता है और एक में एक जोड़ने के एक मिलता है। ताजे फूलों के चारों ओर भौरै गुंजार करते हैं और भगवान् उनकी मधुर ध्वनि का आनन्द लेते हैं। भगवान् के कंकण, हार, मुकुट तथा नूपुर सभी अमूल्य रत्नों से जटित हैं। चूँकि रत्न तथा मोती दिव्य हैं, अतः उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता।

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।

दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

काञ्ची—करधनी; गुण—गुण; उल्लसत्—चमकीली; श्रोणिम्—कमर तथा कूल्हे; हृदय—हृदय; अम्भोज—कमल; विष्टरम्—जिनका आसन; दर्शनीय-तमम्—देखने में सर्वाधिक मोहक; शान्तम्—शान्त, गम्भीर; मनः—मन, हृदय; नयन—आँखें; वर्धनम्—प्रसन्न करने वाला।

उनकी कमर तथा कूल्हे पर करधनी पड़ी है और वे भक्तों के हृदय-कमल पर खड़े हुए हैं। वे देखने में अत्यन्त मोहक हैं और उनका शान्त स्वरूप देखने वाले भक्तों के नेत्रों को तथा आत्माओं को आनन्दित करने वाला है।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रत्युक्त दर्शनीयतमम् शब्द का अर्थ है कि भगवान् इतने सुन्दर हैं कि भक्त-योगी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखना चाहते। भगवान् के दर्शन से सुन्दर वस्तुओं के देखने की चाह पूरी हो जाती है। भौतिक जगत में हम सुन्दरता को देखते अघाते नहीं। भौतिक कल्मष के कारण संसार में हम जितनी उत्कटता का अनुभव करते हैं वह तुष्ट नहीं हो पाती। किन्तु जब देखने, सुनने, स्पर्श करने इत्यादि की हमारी इच्छाएँ भगवान् को तुष्ट करने के लिए होती हैं, तो वे सर्वोच्च पूर्णता को प्राप्त करती हैं।

यद्यपि भगवान् अपने शाश्वत रूप में भक्त के हृदय को इतने सुन्दर तथा मोहक लगाने वाले होते हैं, किन्तु वह रूप निर्विशेषवादियों को, जो उनके निराकार रूप का चिन्तन करना चाहते हैं, आकृष्ट नहीं कर पाता। ऐसा निराकार ध्यान व्यर्थ का श्रम है। वास्तविक योगी अपने अधखुले नेत्रों को किसी शून्य या निराकार में स्थिर न करके भगवान् के स्वरूप पर स्थिर करते हैं।

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।

सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अपीच्य-दर्शनम्—देखने में अतीव सुन्दर; शश्वत्—नित्य; सर्व-लोक—प्रत्येक लोक से समस्त वासियों द्वारा; नमः-कृतम्—पूज्य; सन्तम्—स्थित; वयसि—युवावस्था में; कैशोरे—बाल्यपन में; भृत्य—अपने भक्तों पर; अनुग्रह—आशीर्वाद देने के लिए; कातरम्—उत्सुक।

भगवान् शाश्वत रूप से अत्यन्त सुन्दर हैं और प्रत्येक लोक के समस्तवासियों द्वारा पूजित हैं। वे चिर-युवा रहते हैं और अपने भक्तों को आशीष देने के लिए उत्सुक रहते

हैं।

तात्पर्य : *सर्वलोक नमस्कृतम्* का अर्थ है कि वे प्रत्येक लोक के प्रत्येक प्राणी द्वारा पूज्य हैं। इस भौतिक जगत में तथा साथ ही वैकुण्ठ में भी असंख्य लोक हैं। इन लोकों में से हर एक में असंख्य वासी हैं, जो भगवान् की पूजा करते हैं, क्योंकि निर्विशेषवादियों को छोड़कर वे अन्य सबों के द्वारा पूज्य हैं। परमेश्वर अतीव सुन्दर हैं। *शश्वत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि वे भक्तों को तो सुन्दर लगते हैं, किन्तु अन्ततः निराकार हैं। *शश्वत्* का अर्थ है “सदैव विद्यमान।” यह सौन्दर्य क्षणिक नहीं है। यह चिरस्थायी है—वे चिर-युवा रहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में भी कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाआद्यं पुराणपुरुषं नवयौवन् च। मूल पुरुष अद्वितीय है, फिर भी वे कभी वृद्ध नहीं लगते, वे तरुणावस्था में सदैव तरोताजा लगते हैं।*

भगवान् की भावभंगिया से लगता है कि वे भक्तों पर अनुग्रह करने वाले एवं आशीष देने वाले हैं, किन्तु अभक्तों के प्रति वे मूक रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे सबों पर समभाव रखते हैं, क्योंकि सभी जीव उनके पुत्रवत् हैं, किन्तु जो लोग भक्ति में लगे हैं, वे उन पर विशेष कृपालु रहते हैं। इसी भाव की यहाँ पुष्टि हुई है कि वे भक्तों को सदैव आशीर्वाद देने के लिए आतुर रहते हैं। जिस प्रकार भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्ध भक्तों के ऊपर आशीषों की वर्षा करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।

ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कीर्तन्य—गाये जाने के योग्य; तीर्थ-यशसम्—भगवान् की महिमा; पुण्य-श्लोक—भक्तों के; यशः-करम्—यश को बढ़ाने वाले; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; देवम्—भगवान् का; समग्र-अङ्गम्—सारे अंग; यावत्—जब तक; न—नहीं; च्यवते—विचलित होवे; मनः—मन।

भगवान् का यश वन्दनीय है, क्योंकि उनका यश भक्तों के यश को बढ़ाने वाला है।

अतः मनुष्य को चाहिए कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके भक्तों का ध्यान करे।

मनुष्य को तब तक भगवान् के शाश्वत रूप का ध्यान करना चाहिए जब तक मन स्थिर न हो जाय।

तात्पर्य : मनुष्य को निरन्तर अपना ध्यान भगवान् पर स्थिर रखना चाहिए। जब वह भगवान् के असंख्य रूपों—कृष्ण, विष्णु, राम, नारायण आदि—में से किसी एक का चिन्तन करने का अभ्यस्त हो जावेगा तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है—जिस व्यक्ति में भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम उपज चुका है और जिसके नेत्रों में दिव्य प्रेम का अंजन लग चुका है, वह निरन्तर अपने अन्तःकरण में भगवान् का दर्शन करता है। भक्तगण विशेष रूप से श्यामसुन्दर के सुन्दर श्याम रूप का दर्शन करते हैं। यही योग की सिद्धि है। इस योग पद्धति को तब तक चालू रखना चाहिए जब तक मन क्षण भर भी न चलायमान हो। ॐ *तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*—विष्णु का स्वरूप सर्वोच्च पुरुष और ऋषियों तथा मुनियों को सदैव दृष्टिगोचर होता है।

भक्त जब मन्दिर में भगवान् के रूप की पूजा करता है, तो उससे भी इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। मन्दिर में भगवान् की पूजा तथा भगवान् के रूप का ध्यान—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि भगवान् का स्वरूप वही रहता है चाहे वह मन में प्रकट हो या किसी सीमेंट गारे के रूप में। भक्तों के दर्शनार्थ आठ प्रकार के स्वरूपों की संस्तुति की गई है। ये स्वरूप बालू, मिट्टी, काष्ठ या पत्थर के बनाये जा सकते हैं, या इनका मन में ध्यान किया जा सकता है या रत्नों, धातु या विविध रंगों से बनाया जा सकता है, किन्तु इन सब रूपों का एक सा महत्त्व है। ऐसा नहीं है कि यदि कोई किसी रूप का मन में ध्यान करता है, तो मन्दिर में पूजा किये जाने वाले रूप से वह भिन्न होता है। भगवान् परम हैं, अतः इन दोनों में कई अन्तर नहीं है। निर्विशेषवादी भगवान् के शाश्वत रूप की अवहेलना करके किसी गोलाकार रूप (शून्य) की कल्पना करते हैं। वे विशेष रूप से ओंकार को वरीयता प्रदान करते हैं, किन्तु उसका भी स्वरूप होता है। इसी प्रकार भगवान् की मूर्तियाँ तथा चित्र हैं।

इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *पुण्यश्लोकयशस्करम्* है। भक्त *पुण्यश्लोक* कहलाता

है। जिस प्रकार भगवान् के पवित्र नाम के जप से कोई भी पवित्र हो जाता है उसी तरह पवित्र भक्त के नाम के जपमात्र के वह पवित्र हो जाता है। भगवान् का शुद्ध भक्त तथा स्वयं भगवान् अभिन्न हैं। कभी-कभी पवित्र भक्त के नाम का जप सम्भव होता है। यह एक पवित्र विधि है। एक बार भगवान् चैतन्य गोपियों के पवित्र नामों का कीर्तन कर रहे थे तो उनके शिष्यों ने उनकी आलोचना की, “आप गोपियों के नामों का कीर्तन क्यों कर रहे हैं? आप कृष्ण का कीर्तन क्यों नहीं करते?” भगवान् चैतन्य इस आलोचना से चिड़चिड़ाये अतः उनके शिष्यों तथा उनके बीच कुछ मनमुटाव हो गया। उन्होंने कीर्तन की दिव्य विधि के विषय में इस तरह शिक्षा देने के लिए उन्हें प्रताड़ित करना चाहा।

भगवान् की यह विशेषता है कि जो भक्त उनके कार्यकलापों से सम्बन्धित होते हैं, वे भी यश को प्राप्त होते हैं। अर्जुन, प्रह्लाद, जनक महाराज, बलि महाराज तथा अन्य भक्तों ने संन्यास आश्रम भी नहीं ग्रहण किया था, अपितु गृहस्थ थे। इनमें से कुछ, यथा प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज आसुरी परिवारों में जन्मे थे। प्रह्लाद महाराज का पिता असुर था और बलि महाराज प्रह्लाद के पौत्र थे, तो भी भगवान् की संगति के कारण वे प्रसिद्ध हुए। जो कोई भी भगवान् के शाश्वत साहचर्य में रहता है, वह भगवान् के साथ यश का भागी होता है। निष्कर्ष यह निकला कि सिद्ध योगी को सदैव भगवान् के स्वरूप का दर्शन करते रहना चाहिए और जब तक मन इस प्रकार स्थिर नहीं हो जाता तब तक उसे योग का अभ्यास करते रहना चाहिए।

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।

प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्थितम्—खड़े रहते हुए; व्रजन्तम्—चलते; आसीनम्—बैठे; शयानम्—लेटे; वा—अथवा; गुहा-आशयम्—हृदय में वास करने वाले भगवान्; प्रेक्षणीय—सुन्दर; ईहितम्—लीलाएँ; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; शुद्ध-भावेन—शुद्ध; चेतसा—मन से।

इस प्रकार भक्ति में सदैव तल्लीन रहकर योगी अपने अन्तर में भगवान् को खड़े रहते हुए, चलते, लेटे या बैठे हुए देखता है, क्योंकि परमेश्वर की लीलाएँ सुन्दर तथा

आकर्षक होती हैं।

तात्पर्य : अपने मन से भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की क्रिया तथा भगवान् के यश तथा लीलाओं के कीर्तन की क्रिया एकसमान है। अन्तर केवल इतना है कि भगवान् की लीलाओं को सुनना एवं मन को स्थिर करना, मन के भीतर भगवान् के रूप का ध्यान धरने की अपेक्षा सरल है, क्योंकि इस युग में जब भी कोई भगवान् का चिन्तन करने लगता है, तो मन विचलित हो जाता है और नाना प्रकार की उद्विग्नताओं से मन के भीतर भगवान् को देखने की विधि में गतिरोध आ जाता है। किन्तु जब भगवान् की दिव्य लीलाओं की प्रशंसा करते हुए शब्दोच्चार किया जाता है, तो हम सुनने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यह श्रवण की क्रिया मन में प्रवेश करती है और योग का अभ्यास स्वतः सम्पन्न होता जाता है। उदाहरणार्थ, यदि भगवान् द्वारा गोचारण के लिए अपनी गौवों तथा मित्रों के साथ चारागाह तक जाने का वर्णन *भागवतम्* से पढ़ा जा रहा हो और यदि इसे कोई बालक भी सुने तो उसको सुनने से ही भगवान् की लीलाओं के ध्यान का लाभ प्राप्त हो सकता है। सुनने में मन लगना भी सम्मिलित होता है। भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि इस कलियुग में मनुष्य को सदैव *भगवद्गीता* का कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि *महात्माओं* को चाहिए कि वे भगवान् की महिमा के कीर्तन में लगे रहें जिससे अन्य लोग सुन करके ही वैसा ही लाभ उठा सकें। योग के लिए भगवान् की दिव्य लीलाओं का, चाहे वे खड़े हों, चलते हों या लेटे हों, ध्यान आवश्यक है।

तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।

विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—भगवान् के स्वरूप में; लब्ध-पदम्—स्थिर; चित्तम्—मन को; सर्व—सारे; अवयव—अंगों में; संस्थितम्—स्थिर किया हुआ; विलक्ष्य—अन्तर जान करके; एकत्र—एक स्थान पर; संयुज्यात्—मन को स्थिर करे; अङ्गे—हर अंग में; भगवतः—भगवान् के; मुनिः—मुनि।

भगवान् के नित्य रूप में अपना मन स्थिर करते समय योगी को चाहिए कि वह भगवान् के समस्त अंगों पर एक ही साथ विचार न करके, भगवान् के एक-एक अंग

पर मन को स्थिर करे।

तात्पर्य : मुनि शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मुनि वह है, जो चिन्तन, अनुभव तथा निश्चय करने में अत्यन्त पटु हो। यहाँ पर उसे भक्त या योगी नहीं कहा गया। जो लोग भगवान् के स्वरूप का ध्यान करते हैं, वे मुनि या अल्पज्ञ कहलाते हैं, किन्तु वे जो भगवान् की वास्तविक सेवा करते हैं भक्तियोगी कहलाते हैं। आगे जो विचार-विधि वर्णित है, वह मुनियों की शिक्षा के लिए है। योगी को यह विश्वास दिलाने के लिए कि भगवान् कभी भी निराकार नहीं होता, आगे उद्धृत श्लोक भगवान् के अंगप्रत्यंग देखने की संस्तुति करते हैं। भगवान् का समग्र रूप में चिन्तन कभी-कभी निराकार हो सकता है, अतः यह संस्तुति की गई है कि पहले उनके चरणकमल का ध्यान किया जाय, फिर टखने, फिर जंघा, फिर कमर, तब छाती, गर्दन, मुख इत्यादि। भगवान् के चरणकमल से प्रारम्भ करके क्रमशः उनके दिव्य शरीर के ऊपरी अंगों तक जाया जाए।

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं

वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।

उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-

ज्योत्स्नाभिराहतमहद्दृदयान्धकारम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सञ्चिन्तयेत्—उसे केन्द्रित करना चाहिए; भगवतः—भगवान् के; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों पर; वज्र—वज्र; अङ्कुश—हाथी हाँकने का दंड, अंकुश; ध्वज—पताका; सरोरुह—कमल; लाञ्छन—चिह्न से; आढ्यम्—अलंकृत; उत्तुङ्ग—उमड़े हुए; रक्त—लाल; विलसत्—चमकीले; नख—नाखून; चक्रवाल—चन्द्रमण्डल; ज्योत्स्नाभिः—चन्द्रिका से; आहत—दूर किया गया; महत्—घना; हृदय—हृदय का; अन्धकारम्—अँधेरा।

भक्त को चाहिए कि सर्वप्रथम वह अपना मन भगवान् के चरणकमलों में केन्द्रित करे जो वज्र, अंकुश, ध्वजा तथा कमल चिन्हों से सुशोभित रहते हैं। सुन्दर माणिक से उनके नाखूनों की शोभा चन्द्रमण्डल से मिलती-जुलती है और हृदय के गहन तम को दूर करने वाली है।

तात्पर्य : मायावादी कहता है कि वह परम सत्य के निराकार अस्तित्व को अपने मन में स्थिर कर पाने में अक्षम रहता है, अतः किसी भी रूप की कल्पना करके उस कल्पित रूप में

मन को स्थिर करना चाहिए; किन्तु यहाँ पर ऐसी विधि की संस्तुति नहीं की गई। कल्पना सदैव कल्पना ही रहती है और इससे कल्पना ही प्रतिफलित होती है।

यहाँ पर भगवान् के शाश्वत रूप का सुस्पष्ट वर्णन दिया गया है। भगवान् के चरणतल को वज्र, पताका, कमल तथा अंकुश की आकृतियों से मिलने वाली स्पष्ट रेखाओं से युक्त अंकित किया गया है। उनके पैर के नाखूनों की कान्ति चन्द्रमा के प्रकाश (चन्द्रिका) के तुल्य है। यदि योगी भगवान् के चरणतल पर अंकित चिह्नों तथा उनके नाखूनों की चमक पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तो वह इस संसार के अज्ञान-अंधकार से मुक्त हो सकता है। यह मुक्ति ध्यान से नहीं, अपितु भगवान् के नाखूनों की कान्ति से उत्पन्न प्रकाश के दर्शन से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई इस संसार के अज्ञान के अंधकार से छूटना चाहता है, तो उसे पहले अपना मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करना चाहिए।

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन

तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।

ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं

ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् के चरणकमल; शौच—धोने से, प्रक्षालन से; निःसृत—निकली हुई; सरित्-प्रवर—गंगा नदी के; उदकेन—जल से; तीर्थेन—पवित्र; मूर्ध्न्य—सर पर; अधिकृतेन—उत्पन्न; शिवः—शिवजी; शिवः—शुभ; अभूत्—हो गया; ध्यातुः—ध्यान करने वाले का; मनः—मन; शमल-शैल—पाप का पहाड़; निसृष्ट—फेंका गया; वज्रम्—वज्र; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; चिरम्—दीर्घकाल तक; भगवतः—भगवान् के; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।

पूज्य शिवजी भगवान् के चरणकमलों के प्रक्षालित जल से उत्पन्न गंगा नदी के पवित्र जल को अपने शिर पर धारण करके और भी पूज्य हो जाते हैं। भगवान् के चरण उस वज्र के तुल्य हैं, जो ध्यान करने वाले भक्त के मन में संचित पाप के पहाड़ को ध्वस्त करने के लिए चलाया जाता है। अतः मनुष्य को दीर्घकाल तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में शिवजी की स्थिति का विशेष वर्णन हुआ है। निर्विशेषवादी का सुझाव है कि परम सत्य के कोई रूप नहीं होता, अतः वह विष्णु या शिव या देवी दुर्गा या

उनके पुत्र गणेश किसी के भी स्वरूप की समान रूप से कल्पना कर सकता है। किन्तु भगवान् वस्तुतः हर प्राणी के परम स्वामी हैं। चैतन्य-चरितामृत (आदि ५.१४२) में कहा गया है—
 एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य—कृष्ण ही परमेश्वर हैं और अन्य सभी, जिनमें शिव तथा ब्रह्मा भी सम्मिलित हैं, कृष्ण के दास हैं, अन्य देवताओं की तो बात ही नहीं उठती। यहाँ पर इसी सिद्धान्त का वर्णन हुआ है। शिवजी इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे अपने शिर के ऊपर पवित्र गंगाजल धारण करते हैं जिसका उद्गम भगवान् विष्णु का चरण-प्रक्षालन है। *हरि भक्ति-विलास* में सनातन गोस्वामी कहते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वर तथा देवताओं को, जिनमें शिव तथा ब्रह्मा भी आ जाते हैं, समान स्तर पर रखता है, वह पाषण्डी या नास्तिक हो जाता है। हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् विष्णु तथा सारे देवता एकसमान हैं।

इस श्लोक की एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनादि काल से भौतिक शक्ति के संसर्ग में रहने से बद्धजीव का मन प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा रूपी मल का ढेर उठाए हुए है। यह मल पर्वत के समान है, किन्तु यह पर्वत वज्र से ध्वस्त किया जा सकता है। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान योगी के मन के मल रूपी पर्वत को छिन्न-भिन्न करने के लिए वज्र के समान है। यदि योगी चाहता है कि उसके मन से मल रूपी पर्वत छिन्न-भिन्न हो जाय तो उसे किसी शून्य या निराकार वस्तु की कल्पना न करके मन को भगवान् के चरणकमलों में एकाग्र करना चाहिए। चूँकि मल एक पर्वत का रूप धारण कर चुका है, अतः उसे दीर्घ अवधि तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए। हाँ, जो भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करने का अभ्यस्त है, उसके लिए बात दूसरी है। भक्तगण भगवान् के चरणकमलों में इस प्रकार स्थिर रहते हैं कि वे अन्य किसी वस्तु का चिन्तन ही नहीं करते। जो लोग योगाभ्यास करते हैं उन्हें चाहिए कि विधि-विधानों का पालन करते हुए इन्द्रियों को वश में करके दीर्घ काल तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान धरें।

यहाँ पर *भगवतश्चरणारविन्दम्* का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करना होता है। मायावादी लोग सोचते हैं कि

मनुष्य शिव, ब्रह्मा या देवी दुर्गा में से किसी के चरणकमलों का चिन्तन कर सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ पर *भगवतः* का विशेष उल्लेख है। *भगवतः* का अर्थ है “पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु का।” अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण शिवजी सदैव महान् तथा कल्याणप्रद रहे हैं, किन्तु चूँकि उन्होंने अपने शिर पर उस गंगाजल को धारण करना स्वीकार किया है, जो भगवान् के चरणकमलों से उद्भूत है, अतः वे और भी अधिक शुभ तथा महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर भगवान् के चरणकमलों पर बल दिया गया है। भगवान् के चरणकमलों से सम्बन्धित होने के कारण जब शिवजी की महत्ता बढ़ी है, तो सामान्य जीवों के विषय में क्या कहा जाय!

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या

लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।

ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्

संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

जानु-द्वयम्—घुटनों तक; जलज-लोचनया—कमल-नेत्र वाली; जनन्या—माता; लक्ष्म्या—लक्ष्मी द्वारा; अखिलस्य—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; सुर-वन्दितया—देवताओं द्वारा पूजित; विधातुः—ब्रह्मा को; ऊर्वोः—जाँघों पर; निधाय—रख कर; कर-पल्लव-रोचिषा—अपनी कान्तिमान अँगुलियों से; यत्—जो; संलालितम्—चापे जाकर, दबाये जाकर; हृदि—हृदय में; विभोः—भगवान् का; अभवस्य—इस संसार से परे; कुर्यात्—ध्यान करना चाहिए।

योगी को चाहिए कि वह सभी देवताओं द्वारा पूजित तथा सर्वोपरि जीव ब्रह्मा की माता, ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मीजी के कार्यकलापों में अपने हृदय को स्थिर कर दे। वे सदैव दिव्य भगवान् के पाँवों तथा जंघाओं को चाँपती हुई देखी जा सकती हैं। इस प्रकार वे सावधानी के साथ उनकी सेवा करती हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के नियुक्त स्वामी हैं। चूँकि गर्भोदकशायी विष्णु उनके पिता हैं, अतः लक्ष्मी स्वतः उनकी माँ हुई। लक्ष्मीजी समस्त देवों तथा अन्य लोकों के वासियों द्वारा भी पूजित हैं। मनुष्य भी ऐश्वर्य की देवी से वर प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। ये लक्ष्मीजी गर्भोदकशायी भगवान् नारायण के चरण तथा जंघा चापने में सदैव व्यस्त रहती हैं। यहाँ पर ब्रह्मा को लक्ष्मी-पुत्र बताया गया है, किन्तु वास्तव में वे उनके गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे।

ब्रह्मा का जन्म साक्षात् भगवान् के उदर से होता है। गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से एक कमल का फूल निकलता है और उसी से ब्रह्मा का जन्म होता है। अतः भगवान् की जाँघें दबाती हुई लक्ष्मीजी को सामान्य पत्नी का आचरण नहीं समझना चाहिए। भगवान् सामान्य पुरुष तथा स्त्री के आचरण से परे हैं। *अभवस्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि भगवान् लक्ष्मी की सहायता के बिना ही ब्रह्मा को उत्पन्न कर सके।

चूँकि दिव्य आचरण संसारी आचरण से भिन्न होता है, अतः यह नहीं मान लेना चाहिए कि भगवान् अपनी पत्नी से वैसे ही सेवा कराते हैं जिस प्रकार कोई देवता या मनुष्य अपनी पत्नी से कराता है। यहाँ यह सलाह दी गई है कि योगी सदैव अपने हृदय में यह चित्र रखे। भक्त सदा ही लक्ष्मी तथा नारायण के बीच ऐसे ही सम्बन्ध का चिन्तन करता है, अतः वह निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों की तरह मानसिक ध्यान नहीं करता।

भव का अर्थ है “जो भौतिक शरीर स्वीकार करे” तथा *अभव* का अर्थ है “जो भौतिक शरीर न स्वीकार करे, किन्तु मूल आध्यात्मिक शरीर में प्रकट हो।” भगवान् नारायण किसी भौतिक वस्तु से नहीं जन्मे। पदार्थ से ही पदार्थ उत्पन्न होता है, किन्तु वे पदार्थ से उत्पन्न नहीं हैं। ब्रह्मा का जन्म सृष्टि के बाद हुआ, किन्तु भगवान् सृष्टि के पूर्व उपस्थित थे, अतः भगवान् का कोई भौतिक शरीर नहीं है।

ऊरू सुपर्णभुजयोरधि शोभमाना-

वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।

व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-

काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ऊरू—दोनों जंघाएँ; सुपर्ण—गरुड़ की; भुजयोः—दो कंधे; अधि—ऊपर; शोभमानौ—सुन्दर; ओजः-निधी—समस्त शक्ति का आगार; अतसिका-कुसुम—अलसी के फूल की; अवभासौ—कान्ति जैसी; व्यालम्बि—लटकते हुए; पीत—पीला; वर—श्रेष्ठ; वाससि—वस्त्र पर; वर्तमान—रहकर; काञ्ची-कलाप—करधनी से; परिरम्भि—धिरा हुआ; नितम्ब-बिम्बम्—गोलाकार नितम्ब।

फिर, ध्यान में योगी को अपना मन भगवान् की जाँघों पर स्थित करना चाहिए जो समस्त शक्ति की आगार हैं। वे अलसी के फूलों की कान्ति के समान सफेद-नीली हैं

और जब भगवान् गरुड़ पर चढ़ते हैं, तो ये जाँघें अत्यन्त भव्य लगती हैं। योगी को चाहिए कि वह भगवान् के गोलाकार नितम्बों का ध्यान धरे, जो करधनी से घिरे हुए हैं और यह करधनी भगवान् के एड़ी तक लटकते पीताम्बर पर टिकी हुई है।

तात्पर्य : भगवान् समस्त बल के आगार हैं और उनका यह बल उनके दिव्य शरीर की जंघाओं में बसता है। उनका सम्पूर्ण शरीर सारे धन, सारे बल, सारे यश, सारे सौंदर्य, सारे ज्ञान तथा सारे त्याग—इन ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है। योगी को सलाह दी गई है कि वह भगवान् के दिव्य रूप का, पाँवों के तलुवे से प्रारम्भ करके क्रमशः घुटनों, जाँघों की ओर उठकर अन्त में मुख का ध्यान करे। भगवान् के ध्यान की क्रिया उनके पाँवों से शुरू होती है।

भगवान् के दिव्य रूप का वर्णन मन्दिरों में अर्चाविग्रह अथवा मूर्ति द्वारा सही-सही प्रदर्शित होता है। सामान्यतः भगवान् की मूर्ति का अधोभाग पीले रेशमी वस्त्र से ढका रहता है। यह वैकुण्ठ-वेश है अथवा भगवान् द्वारा आध्यात्मिक जगत में धारण किए जाने वाला वेश है यह वस्त्र भगवान् के टखनों तक लटकता है। इस प्रकार चूँकि योगी को अनेक दिव्य वस्तुओं पर ध्यान लगाना होता है, अतः कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि वह किसी काल्पनिक वस्तु का ध्यान करे, जैसाकि निराकारी तथाकथित योगियों में प्रथा है।

नाभिहृदं भुवनकोशगुहोदरस्थं

यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।

व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य

ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नाभि-हृदम्—नाभि रूपी सरोवर; भुवन-कोश—समस्त लोकों का; गुहा—आधार; उदर—आमाशय पर; स्थम्—स्थित; यत्र—जहाँ; आत्म-योनि—ब्रह्मा का; धिषणा—वास; अखिल-लोक—समस्त लोकों सहित; पद्मम्—कमल; व्यूढम्—ऊपर निकला; हरित्-मणि—मरकत मणि के समान; वृष—अति सुन्दर; स्तनयोः—दोनों चूचुक; अमुष्य—भगवान् के; ध्यायेत्—ध्यान करे; द्वयम्—युगल; विशद—श्वेत; हार—मोती की मालाओं का; मयूख—प्रकाश से; गौरम्—गोरा।

तब योगी को चाहिए कि वह भगवान् के उदर के मध्य में स्थित चंद्रमा जैसी नाभि का ध्यान करे। उनकी नाभि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आधारशिला है जहाँ से समस्त लोकों से युक्त कमलनाल प्रकट हुआ। यह कमल आदि जीव ब्रह्मा का वासस्थान है। इसी तरह

योगी को अपना मन भगवान् के स्तनाग्रों पर केन्द्रित करना चाहिए जो श्रेष्ठ मरकत मणि की जोड़ी के सदृश है और जो उनके वक्षस्थल को अलंकृत करने वाली मोतीमाला की दुग्धधवल किरणों के कारण श्वेत प्रतीत होती है।

तात्पर्य : इसके पश्चात् योगी को भगवान् की नाभि का ध्यान करने के लिए कहा गया है, जो समस्त भौतिक सृष्टि का आधार है। जिस प्रकार शिशु नाल के द्वारा अपनी माता से जुड़ा होता है उसी प्रकार पहले पहल जन्म लेने वाले प्राणी ब्रह्माजी, भगवान् की परमेच्छा से एक कमलनाल द्वारा भगवान् से जुड़े रहते हैं। पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् के पाँव, टखने तथा जाँघें दबाती हुई लक्ष्मीजी ब्रह्मा की माता कहलाती हैं, किन्तु वास्तव में ब्रह्मा अपनी माता के उदर से उत्पन्न न होकर भगवान् के उदर से प्रकट हुए हैं। ये भगवान् के अचिन्त्य कार्यकलाप हैं जिनके विषय में यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि पिता ने किस प्रकार बच्चे को जन्म दिया।

ब्रह्म-संहिता में बताया गया है कि भगवान् के प्रत्येक अंग में अन्य किसी भी अंग की शक्ति रहती है, क्योंकि वह सब कुछ आध्यात्मिक है, अतः उनके अंग बद्ध भी नहीं है। भगवान् अपने कानों से देख सकते हैं जबकि भौतिक कान केवल सुन सकता है, देख नहीं सकता, किन्तु **ब्रह्म-संहिता** से हम जानते हैं कि भगवान् अपने कानों से भी देख सकते हैं और आँखों से सुन सकते हैं। उनके दिव्य शरीर का कोई भी अंग किसी अन्य अंग का कार्य सम्पन्न कर सकता है। उनका उदर समस्त लोकों का आधार है। ब्रह्माजी समस्त लोकों के स्रष्टा का पद धारण किये हैं, किन्तु उनकी अभिकल्पना-शक्ति भगवान् के उदर से उत्पन्न होती है। ब्रह्माण्ड की कोई भी सृजन क्रिया भगवान् से सीधे सम्बद्ध रहती है। मोतियों की माला जिससे भगवान् के शरीर का ऊपरी भाग अलंकृत होता है, वह भी आध्यात्मिक है, अतः योगी को सलाह दी जाती है कि वह उनके वक्षस्थल को अलंकृत करने वाले मोतियों की श्वेत द्युति को निहारे।

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः

पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।

कण्ठं च कौस्तुभमणोरधिभूषणार्थं

कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

वक्षः—छाती; अधिवासम्—आवास; ऋषभस्य—भगवान् का; महा-विभूतेः—महालक्ष्मी का; पुंसाम्—मनुष्यों के; मनः—मन को; नयन—नेत्रों को; निर्वृतिम्—दिव्य आनन्द; आदधानम्—प्रदान करते हुए; कण्ठम्—गला; च—भी; कौस्तुभ-मणेः—कौस्तुभ मणि का; अधिभूषण-अर्थम्—सुन्दरता को बढ़ाने वाला; कुर्यात्—ध्यान करे; मनसि—मन में; अखिल-लोक—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड द्वारा; नमस्कृतस्य—पूजित।

फिर योगी को भगवान् के वक्षस्थल का ध्यान करना चाहिए जो देवी महालक्ष्मी का आवास है। भगवान् का वक्षस्थल मन के लिए समस्त दिव्य आनन्द तथा नेत्रों को पूर्ण संतोष प्रदान करने वाला है। तब योगी को अपने मन में सम्पूर्ण विश्व द्वारा पूजित भगवान् की गर्दन का ध्यान धारण करना चाहिए। भगवान् की गर्दन उनके वक्षस्थल पर लटकने वाले कौस्तुभ मणि की सुन्दरता को बढ़ाने वाली है।

तात्पर्य : उपनिषदों का कथन है कि भगवान् की विविध शक्तियाँ उत्पत्ति, पालन तथा संहार-कार्यों में लगी रहती हैं। ये अकल्पनीय शक्ति-रूप भगवान् के वक्षस्थल में संग्रहीत रहते हैं। जैसाकि सामान्यतः लोग कहते हैं, ईश्वर सर्वशक्तिमान है। यह शौर्य (वीर्य) समस्त शक्तियों के आगार स्वरूप महालक्ष्मी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, जो भगवान् के दिव्य रूप के वक्षस्थल में विराजमान हैं। जो योगी भगवान् के दिव्य रूप के इस स्थल का ध्यान करता है उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं जिनमें योग की आठ सिद्धियाँ आती हैं।

यहाँ यह कहा गया है कि भगवान् की गर्दन की सुन्दरता से कौस्तुभ मणि की शोभा बढ़ती है न कि मणि से गर्दन की। मणि स्वयं अधिक सुन्दर है, क्योंकि भगवान् की गर्दन में स्थित है। इसीलिए योगी को भगवान् की गर्दन का ध्यान करने को कहा गया है। भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान या तो मन में किया जा सकता है या फिर मन्दिर में मूर्ति के रूप में रखकर एवं इस प्रकार से अलंकृत करके जिससे सभी लोग ध्यान कर सकें। अतः मन्दिर-पूजा ऐसे व्यक्तियों के लिए है, जो इतने उन्नत नहीं हैं कि अपने मन में भगवान् के स्वरूप का ध्यान कर सकें। निरन्तर मन्दिर में जाने तथा प्रत्यक्ष रूप से भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करने में कोई

अन्तर नहीं है, उनका एक-सा महत्त्व है। योगी को यह लाभ है कि वह कहीं भी एकान्त स्थान में बैठ कर भगवान् के स्वरूप का ध्यान कर सकता है। किन्तु कम उन्नत व्यक्ति को मन्दिर जाना होता है और जब तक वह मन्दिर नहीं जाता तब तक वह भगवान् के रूप को नहीं देख सकता। चाहे श्रवण हो, दर्शन या ध्यान, सबका लक्ष्य भगवान् का दिव्य स्वरूप प्राप्त करना है; शून्यता या निर्विशेषता का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् सबों को दिव्य आनन्द का वरदान देते हैं चाहे वह मन्दिर जाने वाला हो, ध्यानकर्ता योगी हो या *श्रीमद्भागवत* अथवा *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों से भगवान् के दिव्य स्वरूप को सुनने वाला हो। भक्ति को सम्पन्न करने की नौ विधियाँ हैं जिनमें से *स्मरणम्* या ध्यान एक है। योगी लोग *स्मरणम्* का लाभ उठाते हैं जब कि भक्तियोगी श्रवण तथा कीर्तन का।

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन

निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।

सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः

शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

बाहून्—भुजाओं का; च—तथा; मन्दर-गिरेः—मन्दर पर्वत का; परिवर्तनेन—घूमने से; निर्णिक्त—पालिश किया, रगड़ खाया; बाहु-वलयान्—बाहु के आभूषण; अधिलोक-पालान्—ब्रह्माण्ड के नियामकों का स्रोत; सञ्चिन्तयेत्—ध्यान करे; दश-शत-अरम्—दस सौ आरे, सुदर्शन चक्र; असह्य-तेजः—चकाचौंध, द्युति; शङ्खम्—शंख; च—भी; तत्-कर—भगवान् के हाथ में; सरोरुह—कमल जैसे; राज-हंसम्—हंस की तरह।

इसके बाद योगी को भगवान् की चारों भुजाओं का ध्यान करना चाहिए जो प्रकृति के विभिन्न कार्यों का नियन्त्रण करने वाले देवताओं की समस्त शक्तियों के स्रोत हैं। फिर योगी चमचमाते उन आभूषणों पर मन केन्द्रित करे जो मन्दराचल के घूमने से रगड़ गये थे। उसे चाहिए कि भगवान् के चक्र (सुदर्शन चक्र) का भी ठीक से चिन्तन करे जो एक हजार आरों से तथा असह्य तेज से युक्त है। साथ ही वह शंख का ध्यान करे जो उनकी कमल-सदृश हथेली में हंस सा प्रतीत होता है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बाहुओं से ही विधि तथा व्यवस्था के सारे विभाग उद्भूत होते हैं। ब्रह्माण्ड की विधि-व्यवस्था विभिन्न देवताओं के हाथ में है और यहाँ पर कहा

गया है कि यह भगवान् के बाहुओं से उत्पन्न होती है। यहाँ पर मन्दराचल का उल्लेख हुआ है, क्योंकि जब समुद्र-मंथन हुआ तो एक ओर असुर थे और दूसरी ओर देवता थे, मन्दराचल को उन्होंने मथानी बना लिया था। भगवान् अपने कच्छपावतार में इस मथानी के लिए धुरी बने। फलस्वरूप मन्दराचल के घूमने से उनके आभूषण चमक गये (पालिशदार हो गये)। दूसरे शब्दों में, भगवान् की बाहुओं के आभूषणों की चमक ऐसी थी मानो हाल ही में उनकी पालिश की गई हो। भगवान् के हाथ का चक्र *सुदर्शन चक्र* कहलाता है और इसमें एक हजार आरे (तीलियाँ) हैं। योगियों को सलाह दी जाती है कि वे प्रत्येक आरे का ध्यान करें। उन्हें भगवान् के दिव्य रूप के प्रत्येक संघटक का ध्यान करना चाहिए।

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत

दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।

मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां

चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कौमोदकीम्—कौमोदकी नामक गदा; भगवतः—भगवान् की; दयिताम्—अत्यन्त प्रिय; स्मरेत—स्मरण करे;
दिग्धाम्—सनी हुई; अराति—शत्रुओं के; भट—सैनिक; शोणित-कर्दमेन—रक्त के धब्बों से; मालाम्—माला, हार;
मधुव्रत—भौरों का; वरूथ—झुंड; गिरा—ध्वनि से; उपघुष्टाम्—घिरा; चैत्यस्य—जीव का; तत्त्वम्—सिद्धान्त तत्त्व;
अमलम्—शुद्ध; मणिम्—मोती की माला; अस्य—भगवान् के; कण्ठे—गले में।

फिर योगी को चाहिए कि वह प्रभु की कौमोदकी नामक गदा का ध्यान करे जो उन्हें अत्यन्त प्रिय है। यह गदा शत्रुतापूर्ण सैनिक असुरों को चूर-चूर करने वाली है और उनके रक्त से सनी हुई है। योगी को भगवान् के गले में पड़ी हुई सुन्दर माला का भी ध्यान करना चाहिए जिस पर मधुर गुंजार करते हुए भौरै मँडराते रहते हैं। भगवान् की मोती की माला का भी ध्यान करना चाहिए जो उन शुद्ध आत्माओं की सूचक है, जो भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : योगी को भगवान् के दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों का चिन्तन करना चाहिए। यहाँ बताया गया है कि जीवों की स्वाभाविक स्थिति समझनी होगी। यहाँ पर दो प्रकार की जीवात्माओं का उल्लेख है। पहले प्रकार की *अराति* कहलाती है। ये भगवान् की लीलाओं के

प्रति विपरीत भाव रखती हैं। ऐसी जीवात्माओं को दण्डित करने के लिए भगवान् हाथ में अपनी भयानक गदा लिए प्रकट होते हैं जो सदैव असुरों के वध के रक्त से सनी रहती है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जीवों की सभी योनियाँ भगवान् की सन्तानें हैं। फिर भी जीवों की दो श्रेणियाँ ऐसी हैं, जो दो भिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। परमेश्वर शुद्ध जीवात्माओं को अपने गले में वैसे ही धारण करते हैं जिस प्रकार कोई अपने गले तथा वक्षस्थल पर पड़ी मोतियों की माला की रक्षा करता है। जो जीवात्माएँ शुद्ध कृष्णचेतना में रहती हैं उनको प्रतीकात्मक रूप से उनके गले की मोतियाँ कहा गया है। जो असुर हैं और परमेश्वर की लीलाओं के प्रति शत्रुता रखते हैं उन्हें वे अपनी गदा से दण्ड देते हैं, जो सदैव ऐसी पतित जीवात्माओं के रक्त से सनी रहती है। यह गदा भगवान् को प्रिय है, क्योंकि वे इसे आसुरी शरीरों को चूर-चूर करके रक्त के साथ मिलाने के लिए प्रयुक्त करते हैं। जिस प्रकार मिट्टी को पानी के साथ सानने से कीचड़ बन जाता है उसी प्रकार सांसारिक शत्रुओं या नास्तिकों को प्रभु अपनी गदा से ध्वस्त करते हैं जिससे उनकी गदा ऐसे असुरों के रक्त से गँदली हो जाती है।

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः

सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।

यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन

विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भृत्य—भक्तों के लिए; अनुकम्पित—धिया—अनुकम्पावश; इह—इस संसार में; गृहीत—मूर्तेः—विभिन्न रूपों को धारण करने वाला; सञ्चिन्तयेत्—ध्यान करे; भगवतः—भगवान् का; वदन—मुखमण्डल; अरविन्दम्—कमल-सदृश; यत्—जो; विस्फुरन्—चमचमाता; मकर—मगर की आकृति का; कुण्डल—कान की बालियों का; वल्गितेन—हिलने-डुलने से; विद्योतित—प्रकाशित; अमल—स्वच्छ; कपोलम्—गाल; उदार—सुस्पष्ट, सुघड़; नासम्—नाक।

तब योगी को भगवान् के कमल-सदृश मुखमण्डल का ध्यान करना चाहिए, जो इस जगत में उत्सुक भक्तों के लिए अनुकम्पावश अपने विभिन्न रूप प्रकट करते हैं। उनकी नाक अत्यन्त उन्नत है और उनके स्वच्छ गाल उनके मकराकृत कुण्डलों के हिलने से प्रकाशमान हो रहे हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने भक्तों के लिए प्रगाढ़ अनुकम्पा के वशीभूत होकर भौतिक जगत

में अवतरित होते हैं। इस जगत में भगवान् के अवतार लेने के दो कारण होते हैं। जब-जब धर्म के पालन में त्रुटि आ जाती है और अधर्म की प्रधानता होती है, तो भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने तथा अभक्तों के विनाश के लिए अवतरित होते हैं। जब वे प्रकट होते हैं तो उनका मुख्य प्रयोजन भक्तों को सान्त्वना प्रदान करना होता है। असुरों को नष्ट करने के लिए उन्हें स्वयं आने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनके अनेक पार्षद (एजेन्ट) हैं, यहाँ तक कि उनकी माया में इतनी शक्ति होती है कि उनका वध कर दें, किन्तु जब वे अपने भक्तों पर दया दिखाने आते हैं, तो चलते-चलाते अभक्तों का वध कर देते हैं।

भगवान् सदैव ऐसे रूप में प्रकट होते हैं जो किसी विशेष प्रकार के भक्त को प्रिय हो। भगवान् के लाखों रूप हैं, किन्तु वे सब एक हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—
अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्—भगवान् के सभी रूप एक हैं, किन्तु कुछ भक्त उन्हें राधाकृष्ण के रूप में देखना चाहते हैं तो कुछ सीता-रामचन्द्र के रूप में, अन्य भक्त लक्ष्मी-नारायण के रूप में तो दूसरे चतुर्भुज नारायण वासुदेव के रूप में चाहते हैं। भगवान् के असंख्य रूप हैं, किन्तु वे उस एक ही रूप में, जो भक्त को प्रिय हो, अवतरित होते हैं। योगी को सलाह दी जाती है कि वह भक्तों के द्वारा मान्य रूपों का ही ध्यान करे। वस्तुतः योगी को भगवान् के उस रूप का ध्यान करना चाहिए जिसका अनुभव भगवान् के शुद्ध भक्त ने किया हो। योगी का अर्थ है भक्त। जो योगी शुद्ध भक्त नहीं है उन्हें भक्तों के पदचिह्नों पर चलना चाहिए। यहाँ पर इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि योगी को इस प्रकार से मान्य रूप का ध्यान करना चाहिए, वह भगवान् के किसी रूप को मन से नहीं बना सकता।

यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं

भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।

मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं

ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भु ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् का जो मुखमण्डल; श्री-निकेतम्—कमल; अलिभिः—भाँरों से; परिसेव्यमानम्—घिरा हुआ;
भूत्या—छटा से; स्वया—अपनी; कुटिल—घुँघराले; कुन्तल—बालों का; वृन्द—झुंड के झुंड; जुष्टम्—सुशोभित;

मीन—मछली का; द्वय—जोड़ा; आश्रयम्—निवास; अधिक्षिपत्—लजाने वाला; अब्ज—कमल; नेत्रम्—नेत्र वाला; ध्यायेत्—ध्यान करे; मनः-मयम्—मन में निर्मित; अतन्द्रितः—सतर्क; उल्लसत्—नाचती हुई; भु—भौंहें।

तब योगी भगवान् के सुन्दर मुखमण्डल का ध्यान करता है, जो घुँघराले बालों, कमल जैसे नेत्रों तथा नाचती भौंहों से सुशोभित है। इसकी शोभा (छटा) के आगे भौंहों से घिरा कमल तथा तैरती हुई मछलियों की जोड़ी मात खा जाती है।

तात्पर्य : यहाँ एक महत्त्वपूर्ण कथन है— ध्यायेन् मनोमयम्। मनोमयम् कल्पना नहीं है।

निर्विशेषवादी सोचते हैं कि योगी अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप की कल्पना कर सकता है, किन्तु जैसाकि यहाँ कहा गया है योगी को उस रूप का ध्यान करना चाहिए जिसका अनुभव भक्तों ने किया है। भक्तगण कभी भी भगवान् के किसी रूप की कल्पना नहीं करते। वे किसी काल्पनिक वस्तु से संतुष्ट नहीं होते। भगवान् के विभिन्न दिव्य रूप हैं; प्रत्येक भक्त एक विशेष रूप को चाहता है और उसी रूप की पूजा करते हुए भगवान् की सेवा में लग जाता है।

भगवान् का यह रूप शास्त्रानुमोदित होता है। जैसाकि पहले बताया जा चुका है भगवान् के मूल रूप के आठ प्रकार के स्वरूप हैं। इन्हें मिट्टी, पत्थर, काष्ठा, रंग, बालू आदि से भक्त अपने साधन के अनुसार तैयार कर सकता है।

मन के भीतर भगवान् के स्वरूप का अंकन मनोमयम् है। भगवान् के रूप के आठ विभिन्न प्रकारों में यह अंकन सम्मिलित है। भगवान् के वास्तविक रूप का ध्यान विभिन्न रूप से प्रकट हो सकता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि किसी को उस स्वरूप की कल्पना करनी होती है। इस श्लोक में दो उपमाएँ हैं। पहली उपमा में भगवान् के मुखमण्डल की तुलना कमल से की गई है, फिर काले बालों की तुलना कमल के चारों ओर गुंजरित भौंहों के झुंड से की गई है और नेत्रों की तुलना इधर-उधर तैरती दो मछलियों से की गई है। जल में खिला कमल अत्यन्त सुन्दर लगता है यदि वह गुंजरित भौंहों से तथा मछलियों से घिरा हो। भगवान् का मुखमण्डल पूर्ण है। उनकी सुन्दरता कमल की सुन्दरता को लजाने वाली है।

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-

तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।

स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं

ध्यायेच्चिरं विपुलभावनया गुहायाम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् की; अवलोकम्—चितवन; अधिकम्—प्रायः; कृपया—अनुग्रह से; अतिघोर—अत्यन्त भयावह; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उपशमनाय—कम करने के लिए; निसृष्टम्—चितवन; अक्षणोः—आँखों से; स्निग्ध—चिकनी, प्यारी; स्मित—मुस्कान; अनुगुणितम्—के साथ-साथ; विपुल—प्रचुर; प्रसादम्—दया से युक्त; ध्यायेत्—ध्यान करे; चिरम्—दीर्घकाल तक; विपुल—पूर्ण; भावनया—भक्ति से; गुहायाम्—हृदय में।

योगी को चाहिए कि भगवान् के नेत्रों की कृपापूर्ण चितवन का ध्यान पूर्ण समर्पण भाव से करे, क्योंकि उससे भक्तों के अत्यन्त भयावह तीन प्रकार के कष्टों का शमन होता है। प्रेमभरी मुसकान से युक्त उनकी चितवन विपुल प्रसाद से पूर्ण है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य इस भौतिक शरीर के साथ बद्धजीवन में रहता है, तो वह नाना प्रकार की चिन्ताओं तथा कष्टों को भोगता रहता है। कोई भी भौतिक शक्ति के प्रभाव से बच नहीं सकता, भले ही वह दिव्य पद को क्यों न प्राप्त हो। कभी-कभी अड़चनें आती हैं, किन्तु भक्तों की सारी चिन्ताएँ तथा कष्ट भगवान् के सुन्दर रूप का या उनके मुसकान भरे मुख का चिन्तन करते ही दूर हो जाते हैं। भगवान् अपने भक्तों को असंख्य वर देने वाले हैं और सबसे बड़ा प्रसाद तो उनका मुसकाता चेहरा है, जो भक्तों के लिए कृपा से पूर्ण है।

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-

शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।

सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य

भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

हासम्—मुसकान; हरेः—श्री हरि का; अवनत—झुका हुआ; अखिल—समस्त; लोक—मनुष्यों के लिए; तीव्र-शोक—घोर दुख से उत्पन्न; अश्रु-सागर—आँसुओं का समुद्र; विशोषणम्—सुखाने के लिए; अति-उदारम्—अत्यन्त उपकारी; सम्मोहनाय—मोहने के लिए; रचितम्—उत्पन्न किया गया; निज-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; अस्य—इसका; भ्रू-मण्डलम्—टेढ़ी भौंहें; मुनि-कृते—मुनियों की भलाई के लिए; मकर-ध्वजस्य—कामदेव का।

इसी प्रकार योगी को भगवान् श्री हरि की उदार मुसकान का ध्यान करना चाहिए जो घोर शोक से उत्पन्न उनके अश्रुओं के समुद्र को सुखाने वाली है, जो उनको नमस्कार करते हैं। उसे भगवान् की चाप सदृश भौंहों का भी ध्यान करना चाहिए जो मुनियों की भलाई के लिए कामदेव को मोहने के लिए भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से प्रकट है।

तात्पर्य : यह सारा ब्रह्माण्ड कष्टों से परिपूर्ण है, अतः इस ब्रह्माण्ड के निवासी गहन से सदैव आँसू बहाते रहते हैं। ऐसे अश्रुओं से जल का विशाल समुद्र तैयार हो जाता है, किन्तु जो भगवान् की शरण में चला जाता है उसके लिए आसुओं का यह समुद्र तुरन्त सूख जाता है। उसे केवल भगवान् की मोहक मुसकान के दर्शन करने की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की मोहक मुसकान के दर्शन होते ही संसार का सारा शोक शमित हो जाता है।

इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् की भौहें इतनी मोहक हैं कि उससे ऐन्द्रिय आकर्षण का सौन्दर्य भूल जाता है। काम का देवता 'मकरध्वज' कहलाता है। भगवान् की मोहक भौहें भक्तों तथा मुनियों को भौतिक वासना तथा काम वासना से मोहित होने से बचाती हैं। महान् आचार्य यामुनाचार्य ने कहा है कि जब से उन्होंने भगवान् की मोहक लीलाएँ देखीं तब से उनके लिए विषयी जीवन के सारे आकर्षण हेय बन गये हैं और विषय-सुख का विचार उठते ही उस पर थूक कर वे अपना मुख मोड़ लेते हैं। अतः यदि कोई काम-वासना से विलग रहना चाहता है, तो उसे भगवान् की मनोहारी भौहों तथा मोहक मुसकान को देखना चाहिए।

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-

भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्तिः ।

ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-

र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदक्षेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ध्यान-अयनम्—सरलतापूर्वक ध्यान किया गया; प्रहसितम्—हँसी, अट्टहास; बहुल—प्रभूत; अधर-ओष्ठ—उनके होठों की; भास—भव्यता से; अरुणायित—गुलाबी हुए; तनु—छोटे-छोटे; द्विज—दाँत; कुन्द-पङ्क्ति—चमेली की कलियों की पंक्ति के समान; ध्यायेत्—ध्यान करे; स्व-देह-कुहरे—अपने हृदय के मध्य में; अवसितस्य—वास करने वाला; विष्णोः—विष्णु का; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; आर्द्रया—प्रेम में डूबा; अर्पित-मनाः—मन को स्थिर किये; न—नहीं; पृथक्—अन्य कुछ; दिदक्षेत्—देखने की कामना करे।

योगी को चाहिए कि प्रेम में डूबा हुआ भक्तिपूर्वक अपने अन्तरतम में भगवान् विष्णु के अट्टहास का ध्यान करे। उनका यह अट्टहास इतना मोहक है कि इसका सरलता से ध्यान किया जा सकता है। भगवान् के हँसते समय उनके छोटे-छोटे दाँत चमेली की कलियों जैसे दिखते हैं और उनके होठों की कान्ति के कारण गुलाबी प्रतीत होते हैं। एक बार अपना मन उनमें स्थिर करके, योगी को कुछ और देखने की कामना नहीं करनी

चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर संस्तुति की गई है कि योगी को चाहिए कि भगवान् की हँसी का भलीभाँति अध्ययन करके उनके अट्टहास का चिन्तन करे। मुसकान, हँसी, मुख, होठ, दाँत के ध्यान के ये विशेष विवरण स्पष्ट रूप से यह इंगित करते हैं कि ईश्वर निराकार नहीं है। यहाँ पर बताया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि विष्णु की हँसी का ध्यान करे। इसके अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं जिससे भक्त का हृदय स्वच्छ हो सके। भगवान् विष्णु की हँसी की विशेषता यह है कि जब वे हँसते हैं, तो उनके कुन्दकली जैसे छोटे-छोटे दाँत उनके गुलाबी होठों के प्रतिबिम्ब से लाल-लाल हो जाते हैं। यदि योगी अपने हृदय में भगवान् के सुन्दर मुखमण्डल को बसा सके तो उसे पूर्ण संतोष प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में, जब कोई भगवान् की सुन्दरता को अपने अन्तः में देखता है, तो उसे भौतिक आकर्षण नहीं सताते।

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो

भक्त्या द्रवद्दृढदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।

औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-

स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्गे ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; हरौ—हरि के प्रति; भगवति—भगवान्; प्रतिलब्ध—विकसित; भावः—शुद्ध प्रेम; भक्त्या—भक्ति से; द्रवत्—द्रवीभूत हुआ; हृदयः—उसका हृदय; उत्पुलकः—शरीर में रोमांच होना; प्रमोदात्—अत्यधिक प्रसन्नता से; औत्कण्ठ्य—तीव्र प्रेम से; बाष्प-कलया—आँसुओं की धारा से; मुहुः—लगातार; अर्द्यमानः—भीगा; तत्—वह; च—यथा; अपि—भी; चित्त—मन; बडिशम्—वंशी, कँटिया; शनकैः—धीरे-धीरे; वियुङ्गे—हटा लेता है।

इस मार्ग का अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे योगी में भगवान् हरि के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार भक्ति करते हुए अत्यधिक आनन्द के कारण शरीर में रोमांच होने लगता है और गहन प्रेम के कारण शरीर अश्रुओं की धारा से नहा जाता है। यहाँ तक कि धीरे-धीरे वह मन भी भौतिक कर्म से विमुख हो जाता है, जिसे योगी भगवान् को आकृष्ट करने के साधन रूप में प्रयुक्त करता है, जिस प्रकार मछली को आकृष्ट करने के लिये कँटिया प्रयुक्त की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट बताया गया है कि ध्यान, जो कि मन का कर्म है, समाधि की

पूर्णावस्था नहीं है। प्रारम्भ में मन का उपयोग भगवान् के स्वरूप को आकर्षित करने के लिए किया जाता है, किन्तु उच्चतर अवस्थाओं में मन को प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्त अपनी इन्द्रियों की शुद्धि के द्वारा भगवान् की सेवा करने लगता है। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई शुद्ध भक्ति को प्राप्त कर नहीं लेता तभी तक योग के ध्यान की आवश्यकता पड़ती है। मन का उपयोग इन्द्रियों को शुद्ध करने में किया जाता है, किन्तु जब ध्यान द्वारा इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तो किसी स्थान पर बैठकर भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। मनुष्य इतना अभ्यस्त हो जाता है कि वह स्वतः ही भगवान् की सेवा में लग जाता है। जब मन को बलपूर्वक ईश्वर के स्वरूप में लगाया जाता है, जो यह *निर्बीज योग* अर्थात् प्राणहीन योग कहलाता है, क्योंकि योगी स्वतः भगवद्भक्ति में नहीं लगता। किन्तु जब वह निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता होता है, तो यह *सबीज योग* या जीवित योग कहलाता है। मनुष्य को इसी सबीज योग तक पहुँचना होता है।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में बतलाया गया है, मनुष्य को चौबीसों घंटे भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहिए। *प्रेमाञ्जनच्छुरित* अवस्था पूर्ण प्रेम उत्पन्न करके ही प्राप्त की जा सकती है। जब भक्ति में भगवान् के लिए पूरी तरह से प्रेम उत्पन्न हो जाता है, तो वह उनके स्वरूप पर कृत्रिम रूप से ध्यान किये बिना ही भगवान् का दर्शन कर सकता है। उसकी दृष्टि दिव्य रहती है, क्योंकि उसके पास कोई कार्य नहीं रहता। आत्म-साक्षात्कार की इस अवस्था पर मन को कृत्रिम रूप से लगाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। चूँकि निम्न अवस्थाओं में ध्यान की संस्तुति भक्ति पद तक पहुँचने के लिए की जाती है, अतः जो पहले से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हैं, वे ऐसे ध्यान से ऊपर हैं। यह पूर्णता की अवस्था कृष्णचेतना (भक्ति) कहलाती है।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं

निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-

मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मुक्त-आश्रयम्—मुक्ति में स्थित; यर्हि—जिस समय; निर्विषयम्—विषयों से विरक्त; विरक्तम्—उदासीन; निर्वाणम्—बुझना, अन्त; ऋच्छति—प्राप्त करता है; मनः—मन; सहसा—तुरन्त; यथा—जिस तरह; अर्चिः—लपट; आत्मानम्—मन; अत्र—इस समय; पुरुषः—व्यक्ति; अव्यवधानम्—किसी प्रकार के वियोग के बिना; एकम्—एक; अन्वीक्षते—अनुभव करता है; प्रतिनिवृत्त—मुक्त; गुण-प्रवाहः—गुणों के प्रवाह से।

इस प्रकार जब मन समस्त भौतिक कल्मष से रहित और विषयों से विरक्त हो जाता है, तो यह दीपक की लौ के समान हो जाता है। उस समय मन वस्तुतः परमेश्वर जैसा हो जाता है और उनसे जुड़ा हुआ अनुभव किया जाता है, क्योंकि यह भौतिक गुणों के पारस्परिक प्रवाह से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में मन के कार्य हैं स्वीकारना तथा नकारना। जब तक मन भौतिक चेतना में रहता है, तब तक इसे भगवान् को ध्यान करने के लिए बाध्य करते रहना चाहिए, किन्तु जब मनुष्य प्रेममय भगवान् के प्रेम-भाव तक उठ जाता है, तो मन स्वतः भगवान् के विचार में तल्लीन हो जाता है। ऐसी दशा में योगी के पास भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य विचार नहीं रह जाता। भगवान् की इच्छाओं के साथ-साथ मन के चलने को *निर्वाण* या परमेश्वर के साथ मन को एक करना कहते हैं।

निर्वाण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण *भगवद्गीता* में दिया गया है। प्रारम्भ में अर्जुन का मन कृष्ण के मन से विपथ हो रहा था। कृष्ण चाहते थे कि अर्जुन लड़े, किन्तु अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था, अतः मतभेद था। किन्तु भगवान् से *भगवद्गीता* सुनने के बाद अर्जुन ने अपने मन को कृष्ण की इच्छानुकूल बना लिया। यह तादात्म्य कहलाता है। किन्तु इस तादात्म्य से अर्जुन तथा कृष्ण की व्यष्टि (व्यक्तित्व) समाप्त नहीं हुई। मायावादी चिन्तक इसे नहीं समझ सकते। वे सोचते हैं कि तादात्म्य के लिए व्यष्टि का क्षय होना आवश्यक है। किन्तु हम *भगवद्गीता* में पाते हैं कि यह व्यष्टि खोती नहीं। जब मन भगवद्प्रेम में पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, तो यह मन भगवान् का मन बन जाता है। उस समय मन न तो पृथक् रूप से कर्म करता है न भगवान् की इच्छापूर्ति के लिए प्रेरणा से रहित होता है। व्यष्टि मुक्त आत्मा के कोई अन्य कर्म नहीं होता। *प्रतिनिवृत्त-गुण-प्रवाहः*। बद्ध अवस्था में मन सदैव भौतिक जगत के तीन गुणों से प्रेरित होकर

कर्म में लगता है, किन्तु दिव्य अवस्था में ये भौतिक गुण भक्त के मन को विचलित नहीं कर पाते। भक्त के पास भगवान् की इच्छाओं की तुष्टि के अतिरिक्त कोई चिन्ता नहीं रहती। यह पूर्णता की सर्वोच्च अवस्था है, जिसे *निर्वाण* या *निर्वाणमुक्ति* कहते हैं। इस अवस्था में मन भौतिक इच्छा से पूरी तरह मुक्त हो जाता है।

यथार्चिः। *अर्चिः* का अर्थ है लौ, लपट। जब दीपक टूट जाता है या तेल चुक जाता है, तो दीपक की लौ बुझ जाती है। किन्तु वैज्ञानिक बोध के अनुसार लौ बुझती नहीं, यह संरक्षित रहती है। यही शक्ति का संरक्षण है। इसी प्रकार जब मन भौतिक स्तर पर कार्य करना बन्द कर देता है, तो यह भगवान् के कर्मों में संरक्षित रहता है। यहाँ पर मायावादी चिन्तकों के मन के कर्म के रुद्ध होने की कल्पना की व्याख्या की गई है। मानसिक क्रिया के रुद्ध होने का अर्थ है प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से होने वाली क्रियाओं का अवरुद्ध होना।

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या

तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।

हेतुत्वमप्यसति कर्तारि दुःखयोर्यत्

स्वात्मन्विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—योगी; अपि—इसके अतिरिक्त; एतया—इससे; चरमया—अन्तिम; मनसः—मन का; निवृत्त्या—कर्मफल के रुकने (अन्त) से; तस्मिन्—उसमें; महिम्नि—अन्तिम महिमा; अवसितः—स्थित; सुख-दुःख-बाह्ये—सुख तथा दुख से बाहर; हेतुत्वम्—कारण; अपि—निस्सन्देह; असति—अविद्या का फल; कर्तारि—अहंकार में; दुःखयोः—सुख तथा दुख का; यत्—जो; स्व-आत्मन्—अपने आपको; विधत्ते—उपलक्षित करता है; उपलब्ध—प्राप्त; पर-आत्म—भगवान् का; काष्ठः—सर्वोच्च सत्य।

इस प्रकार उच्चतम दिव्य अवस्था में स्थित मन समस्त कर्मफलों से निवृत्त होकर अपनी महिमा में स्थित हो जाता है, जो सुख तथा दुख के सारे भौतिक बोध से परे है। उस समय योगी को परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का बोध होता है। उसे पता चलता है कि सुख तथा दुख तथा उनकी अन्तःक्रियाएँ, जिन्हें वह अपने कारण समझता था, वास्तव में अविद्याजनित अहंकार के कारण थीं।

तात्पर्य : भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की विस्मृति अविद्या का परिणाम है। योगाभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने को परमेश्वर से स्वतन्त्र सोचने के इस अज्ञान को दूर कर सकता है।

मनुष्य का वास्तविक सम्बन्ध शाश्वत रूप से प्रेम का सम्बन्ध है। जीव भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति के निमित्त है। मधुर सम्बन्ध की विस्मृति ही अज्ञान कहलाती है और अज्ञान होने पर ही वह प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर अपने आपको भोक्ता मान बैठता है। जब भक्त का मन शुद्ध हो जाता है और वह यह समझने लगता है कि उसके मन को परमेश्वर की इच्छाओं के अनुसार चलना है, तो समझो कि उसे पूर्ण दिव्य अवस्था प्राप्त हो गई जो भौतिक सुख तथा दुख के अनुभव से परे होती है।

जब तक मनुष्य स्वेच्छा से कर्म करता रहता है, तो उसे तथाकथित सुख तथा दुख के सारे भौतिक अनुभव सताते रहते हैं। वस्तुतः सुख होता ही नहीं। जिस प्रकार किसी पागल व्यक्ति के कर्मों में कोई सुख नहीं मिलता उसी प्रकार भौतिक कार्यकलापों में सुख तथा दुख की मानसिक अनुभूति (मनोरथ) झूठी है। वस्तुतः हर वस्तु दुख में है।

जब मन भगवान् की इच्छानुसार कर्म करने लगता है, तो समझो कि मनुष्य को दिव्य अवस्था प्राप्त हो गई। प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा ही अविद्या का कारण है और जब यह इच्छा पूर्णतया मिट जाती है, तो और इच्छाएँ भगवान् की इच्छाओं का अनुसरण करती हैं तभी समझो कि यह सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुका। *उपलब्ध-परात्म-काष्ठः*। *उपलब्ध* का अर्थ है 'साक्षात्कार'। साक्षात्कार व्यष्टि का सूचक है। सिद्ध, मुक्त अवस्था में ही वास्तविक साक्षात्कार होता है। *निवृत्त्या* का अर्थ है कि जीव अपनी व्यष्टि बनाये रखता है; *तादात्म्य* का अर्थ होता है कि जीव परमेश्वर के सुख में ही अपना सुख मानता है। परमेश्वर में सुख ही सुख है। *आनन्दमयोऽध्यासात्*—भगवान् स्वभाव से दिव्य सुख से पूर्ण हैं। मुक्तावस्था में परमेश्वर से तादात्म्य का अर्थ होता है कि मनुष्य के सुख के अतिरिक्त अन्य साक्षात्कार न हो। किन्तु तो भी व्यष्टि बना रहता है अन्यथा उपलब्ध शब्द, जो दिव्य सुख के व्यष्टि साक्षात्कार का सूचक है, यहाँ प्रयुक्त न होता।

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।

दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं

वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर; च—तथा; तम्—वह; न—नहीं; चरमः—अन्तिम; स्थितम्—आसीन; उत्थितम्—उठा हुआ; वा—अथवा; सिद्धः—सिद्ध जीव; विपश्यति—सोच सकता है; यतः—क्योंकि; अध्यगमत्—प्राप्त कर चुका है; स्व-रूपम्—अपनी असली पहचान; दैवात्—भाग्य के अनुसार; उपेतम्—पहुँचा हुआ; अथ—और भी; दैव-वशात्—भाग्य के अनुसार; अपेतम्—गया हुआ; वासः—वस्त्र; यथा—जिस तरह; परिकृतम्—पहने गये; मदिरामद-अन्धः—शराब पीने से अन्धा हुआ।

अपना असली स्वरूप प्राप्त कर लेने के कारण पूर्णतया सिद्ध जीव को इसका कोई बोध नहीं होता है कि यह भौतिक देह किस तरह हिल-डुल रही है या काम कर रही है, जिस तरह कि नशा किया हुआ व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वह अपने शरीर में वस्त्र धारण किये हैं अथवा नहीं।

तात्पर्य : रूप गोस्वामी ने भक्ति-रसामृत-सिन्धु में जीवन की इस अवस्था की व्याख्या की है। जिस व्यक्ति का मन भगवान् की इच्छाओं के अनुरूप होता है और जो उसे शत प्रतिशत भगवान् की सेवा में लगाता है, वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को भूल जाता है।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्

स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।

तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः

स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अपि—इसके अतिरिक्त; दैव-वश-गः—भगवान् के वश में; खलु—निस्सन्देह; कर्म—कर्म; यावत्—जब तक; स्व-आरम्भकम्—अपने आप प्रारम्भ किया गया; प्रतिसमीक्षते—कार्य करता रहता है; एव—निश्चय ही; स-असुः—इन्द्रियों के साथ-साथ; तम्—शरीर; स-प्रपञ्चम्—अपने विस्तारों सहित; अधिरूढ-समाधि-योगः—योगाभ्यास द्वारा समाधि में स्थित; स्वाप्नम्—स्वप्न-जनित; पुनः—फिर; न—नहीं; भजते—अपनाता है; प्रतिबुद्ध-प्रबुद्ध, जाग्रत; वस्तुः—अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति।

ऐसे मुक्त योगी के इन्द्रियों सहित शरीर का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और यह शरीर तब तक कार्य करता रहता है जब तक इसके दैवाधीन कर्म समाप्त नहीं हो जाते। इस प्रकार अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति जागरूक तथा योग की चरम सिद्धावस्था, समाधि, में स्थित मुक्त भक्त शरीर के गौण फलों को निजी कह कर स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार वह अपने शारीरिक कार्यकलापों को स्वप्न में सम्पन्न

कार्यकलाप सदृश मानता है।

तात्पर्य : निम्नलिखित प्रश्न उठाए जा सकते हैं। जब तक मुक्त आत्मा शरीर के सम्पर्क में रहता है, तो शारीरिक कार्य उसे क्यों नहीं प्रभावित करते? क्या वह भौतिक कार्यकलापों के कर्म तथा फल से कल्मष-ग्रसित नहीं हो जाता? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में इस श्लोक में कहा गया है कि मुक्त आत्मा के भौतिक शरीर का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। यह जीव की जीवनी शक्ति के कारण कार्य नहीं करता होता; वह विगत कर्मों की प्रतिक्रिया (फल) स्वरूप ही कार्य करता है। एक बिजली का पंखा, बन्द करने के बाद भी कुछ काल तक घूमता रहता है। यह गति विद्युत धारा के कारण नहीं होती, किन्तु पिछली गति के सातत्य रूप में होती है; इसी प्रकार यद्यपि मुक्त जीव सामान्य व्यक्ति की भाँति कार्य करता प्रतीत होता है, किन्तु उसके कर्मों को विगत कर्मों के सातत्य रूप में मानना होगा। स्वप्न में मनुष्य अपने को अनेक शरीरों में विस्तारित देख सकता है, किन्तु जगने पर वह यह समझ सकता है कि ये सारे शरीर झूठे थे। इसी प्रकार यद्यपि मुक्त जीव के शरीर के गौण फल—यथा बच्चे, पत्नी, घर आदि होते हैं, किन्तु वह इन शारीरिक विस्तारों की पहचान अपने आप से नहीं करता। वह जानता है कि ये सब भौतिक स्वप्न की उपज हैं। स्थूल शरीर पदार्थ के स्थूल तत्त्वों से बना है और सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कल्मषग्रस्त चेतना से बना है। यदि मनुष्य स्वप्न के सूक्ष्म देह को झूठा मान सकता है और अपनी पहचान उस देह से नहीं करता तो निश्चित रूप से एक प्रबुद्ध व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर के साथ भी अपनी पहचान नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रबुद्ध व्यक्ति स्वप्न में देखे शरीर के कार्यकलापों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता उसी तरह मुक्त आत्मा का वर्तमान शरीर के कार्यकलापों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरे शब्दों में, चूँकि वह अपनी स्वाभाविक स्थिति से अवगत रहता है, अतः वह देहात्मबुद्धि को कभी स्वीकार नहीं करता।

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते ।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; पुत्रात्—पुत्र से; च—तथा; वित्तात्—सम्पत्ति से; च—भी; पृथक्—भिन्न रूप से; मर्त्यः—नाशवान पुरुष; प्रतीयते—समझा जाता है; अपि—ही; आत्मत्वेन—स्वभाव से; अभिमतात्—प्रिय से; देह-आदेः—अपने भौतिक शरीर, इन्द्रियों तथा मन से; पुरुषः—मुक्त जीव; तथा—उसी तरह।

परिवार तथा सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण मनुष्य पुत्र तथा सम्पत्ति को अपना मानने लगता है और भौतिक शरीर के प्रति स्नेह होने से वह सोचता है कि यह मेरा है। किन्तु वास्तव में जिस तरह मनुष्य समझ सकता है कि उसका परिवार तथा उसकी सम्पत्ति उससे पृथक् हैं, उसी तरह मुक्त आत्मा समझ सकता है कि वह तथा उसका शरीर एक नहीं हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में वास्तविक ज्ञान की अवस्था बताई गई है। बच्चे तो अनेक हैं, किन्तु कुछ को हम अपने स्नेह के कारण अपने पुत्र-पुत्री रूप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि हम यह भलीभाँति जानते हैं कि ये बच्चे हमसे पृथक् हैं। इसी प्रकार धन के लिए अत्यधिक स्नेह होने के कारण बैंक में जमा सम्पत्ति को हम अपनी मानते हैं। इसी प्रकार हम कहते हैं कि यह शरीर हमारा है, क्योंकि इसके प्रति हमें स्नेह है। हम कहते हैं कि यह 'मेरा' शरीर है। फिर हम अपने स्वामित्व भाव को बढ़ाते हुए कहते हैं, "यह मेरा हाथ है, यह मेरा पाँव है। यह मेरी बैंक-बचत है, यह मेरा पुत्र, मेरी पुत्री है आदि आदि।" किन्तु वास्तव में हम जानते हैं कि पुत्र तथा सम्पत्ति हमसे भिन्न हैं। यही हाल इस शरीर का है, हम अपने शरीर से पृथक् हैं। यह समझने (बोध) का प्रश्न है और सही-सही समझना ही प्रतिबुद्ध कहलाता है। भक्ति या कृष्णचेतना के विषय में ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मुक्त बन सकता है।

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्भूमाद्वापि स्वसम्भवात् ।

अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; उल्मुकात्—लौ से; विस्फुलिङ्गात्—चिनगारियों से; धूमात्—धुएँ से; वा—अथवा; अपि—भी; स्व-सम्भवात्—अपने आप से उद्भूत; अपि—यद्यपि; आत्मत्वेन—प्रकृति (स्वभाव) से; अभिमतात्—घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित; यथा—जिस प्रकार; अग्निः—अग्नि; पृथक्—भिन्न; उल्मुकात्—लौ से।

प्रज्वलित अग्नि ज्वाला से, चिनगारी से तथा धुएँ से भिन्न है, यद्यपि ये सभी उससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं, क्योंकि वे एक ही प्रज्वलित काष्ठ से उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि प्रज्वलित काष्ठ, चिनगारियाँ, धुआँ तथा लौ (लपट) पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते, क्योंकि प्रत्येक अग्नि का अंशरूप है फिर भी वे एक दूसरे से पृथक् हैं। अल्पज्ञ धुएँ को अग्नि मान लेता है, यद्यपि अग्नि तथा धुआँ सर्वथा पृथक् हैं। अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश पृथक्-पृथक् हैं, भले ही कोई इनको अलग नहीं कर सकता है।

भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् ।

आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान्ब्रह्मसंज्ञितः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भूत—पंच तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्तः—करणात्—मन से; प्रधानात्—प्रधान से; जीव-संज्ञितात्—जीवात्मा से; आत्मा—परमात्मा; तथा—उसी तरह; पृथक्—भिन्न; द्रष्टा—देखनेवाला; भगवान्—भगवान्; ब्रह्म-संज्ञितः—ब्रह्म कहलाने वाला।

परब्रह्म कहलाने वाला भगवान् द्रष्टा है। वह जीवात्मा या जीव से भिन्न है, जो इन्द्रियों, पंचतत्त्वों तथा चेतना से संयुक्त है।

तात्पर्य : यहाँ पर पूर्णब्रह्म की स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत की गई है। जीवात्मा भौतिक तत्त्वों से भिन्न है और परम पुरुष या भगवान् जो भौतिक तत्त्वों के स्रष्टा हैं, प्रत्येक जीवात्मा से भिन्न हैं। भगवान् चैतन्य ने इस अवधारणा को *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* के रूप में स्थापित किया है। प्रत्येक वस्तु अन्य किसी वस्तु से एक ही समय अभिन्न और भिन्न होती है। परमेश्वर की भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न यह दृश्य जगत भी उनसे अभिन्न तथा साथ ही भिन्न भी है। भौतिक शक्ति परमेश्वर से अभिन्न है, किन्तु साथ ही भिन्न प्रकार से कार्यशील होने के कारण यह शक्ति परमेश्वर से भिन्न है। इसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर से अभिन्न तथा भिन्न है। यह “एक ही समय अभिन्न तथा भिन्न” की अवधारणा *भागवत* मत का सही-सही निष्कर्ष है, जिसकी पुष्टि यहाँ पर कपिलदेव द्वारा हुई है।

जीवों की तुलना अग्नि की चिनगारियों से की गई है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, अग्नि, लौ, धुँआ तथा काष्ठ सभी मिले हुए हैं। यहाँ पर जीवात्मा भौतिक तत्त्व तथा परमात्मा परस्पर मिले हुए हैं। जीवों की स्थिति अग्नि की चिनगारियों जैसी ही है, भौतिक शक्ति की तुलना धुएँ से की गई है। अग्नि भी परमेश्वर का अंश है। *विष्णु पुराण* में कहा गया

है कि हम भौतिक या आध्यात्मिक जगत में जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं वह परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का ही विस्तार है। जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर उष्मा तथा प्रकाश वितरित करती है उसी प्रकार भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों को सम्पूर्ण सृष्टि भर में वितरित करते हैं।

वैष्णव दर्शन के चार सिद्धान्त हैं—शुद्ध-अद्वैत, द्वैत-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत तथा द्वैत। वैष्णव दर्शन के ये चारों सिद्धान्त *भागवत* के इन दो श्लोकों में कथित अधिकारों (दावों) पर आधारित हैं।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; च—तथा; आत्मानम्—आत्मा को; सर्व-भूतानि—समस्त जीव; च—यथा; आत्मनि—परमेश्वर में; ईक्षेत—उसे देखना चाहिए; अनन्य-भावेन—समभाव से; भूतेषु—समस्त जीवों में; इव—सदृश; तत्-आत्मताम्—स्व की प्रकृति।

योगी को चाहिए कि समस्त जीवों में उसी एक आत्मा को देखे, क्योंकि जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है। इस तरह से भक्त को चाहिए कि वह समस्त जीवों को बिना भेदभाव के देखे। यही परमात्मा का साक्षात्कार है।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है, परमात्मा न केवल प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है, अपितु वह परमाणुओं तक में प्रवेश कर जाता है। परमात्मा सर्वत्र सुप्त अवस्था में विद्यमान है और जब कोई उसकी उपस्थिति को सर्वत्र देखता है, तो वह भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है।

सर्वभूतेषु शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है : जीवों की चार भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं—*उद्भिज* (पृथ्वी से उत्पन्न), *अण्डज* (अण्डे से उत्पन्न), *स्वेदज* (पसीने या खमीर से उत्पन्न) तथा *पिंडज* (भ्रूण से उत्पन्न)। जीवों की इन चार श्रेणियों की ८४,००,००० योनियाँ हैं। जो व्यक्ति भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है, वह एक ही प्रकार के आत्मा को सर्वत्र

या प्रत्येक जीव में देखता है। अल्पज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि पौधे तथा घास पृथ्वी से स्वतः उग आते हैं, किन्तु जो बुद्धिमान है और जिसे आत्मज्ञान है, वह देख सकता है कि यह वृद्धि स्वतः नहीं होती; इसका कारण आत्मा है और विभिन्न परिस्थितियों में भौतिक शरीर विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। प्रयोगशाला में सड़न की क्रिया से अनेक जीवाणु पैदा होते हैं, किन्तु इसका कारण आत्मा की उपस्थिति है। भौतिकतावादी विज्ञानी सोचता है कि अण्डे जीवरहित हैं, किन्तु यह तथ्य नहीं है। हमें वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूपों वाले जीव उत्पन्न होते हैं। चिड़ियाँ अंडे से निकलती हैं तथा पशु एवं मनुष्य भ्रूण से उत्पन्न हैं। योगी या भक्त की पूर्ण दृष्टि इसमें होती है कि वह सर्वत्र जीवात्मा की उपस्थिति देखता है।

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते ।

योनीनां गुणवैषम्यात्तथात्मा प्रकृतौ स्थितः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्व-योनिषु—काष्ठ के रूप में; यथा—जिस प्रकार; ज्योतिः—अग्नि; एकम्—एक; नाना—भिन्न-भिन्न प्रकार से; प्रतीयते—प्रकट होती है; योनीनाम्—विभिन्न गर्भों में; गुण-वैषम्यात्—विभिन्न गुणों के कारण; तथा—उसी प्रकार; आत्मा—आत्मा; प्रकृतौ—भौतिक प्रकृति में; स्थितः—स्थित।

जिस प्रकार अग्नि काष्ठ के विभिन्न प्रकारों में प्रकट होती है उसी प्रकार प्रकृति के गुणों की विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत शुद्ध आत्मा अपने आपको विभिन्न शरीरों में प्रकट करता है।

तात्पर्य : यह समझ लेना होगा कि शरीर को उपाधि दी जाती है। भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की अन्तःक्रिया प्रकृति है और इन गुणों के अनुसार किसी को छोटा शरीर मिलता है, तो किसी को बड़ा। उदाहरणार्थ, काष्ठ के बड़े खण्ड में अग्नि बड़ी प्रतीत होती है और एक छड़ी में छोटी लगती है। वस्तुतः अग्नि की गुणता सर्वत्र एक रहती है, किन्तु भौतिक प्रकृति का प्राकट्य ऐसा है कि ईंधन के अनुसार अग्नि छोटी या बड़ी प्रतीत होती है। इसी प्रकार विराट शरीर का आत्मा एक-से गुण वाला होते हुए भी लघु शरीर के आत्मा की अपेक्षा भिन्न होता है।

आत्मा के लघुकण विशाल आत्मा की चिनगारियों के समान हैं। सबसे महान् आत्मा तो परमात्मा है, किन्तु यह परम आत्मा लघु आत्मा से गुण में भिन्न है। वैदिक साहित्य में परमात्मा को लघु आत्मा की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला कहा गया है (*नित्यो नित्यानाम्*)। जो कोई परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा के इस अन्तर को समझता है, वह शोकरहित है और शान्तिपूर्वक रहता है। जब लघु आत्मा अपने को विशाल आत्मा के तुल्य सोचता है, तो वह माया के वश में होता है, क्योंकि यह उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं है। मात्र कल्पना से कोई विशाल आत्मा नहीं बन सकता।

वराह पुराण में विभिन्न आत्माओं की लघुता या विशालता का वर्णन स्वांश विभिन्नांश के रूप में पाया जाता है। स्वांश आत्मा भगवान् है और विभिन्नांश आत्माएँ या लघुकण शाश्वत रूप से लघु कण ही रहते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः*)। लघु जीव शाश्वत अंश हैं, अतः वे कभी परमात्मा के समान नहीं हो सकते।

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इस प्रकार; इमाम्—इस; स्वाम्—निज; प्रकृतिम्—भौतिक शक्ति को; दैवीम्—दैवी; सत्-असत्-आत्मिकाम्—कारण तथा कार्य से युक्त; दुर्विभाव्याम्—समझने में कठिन; पराभाव्य—जीतकर; स्व-रूपेण—स्वरूपसिद्ध स्थिति में; अवतिष्ठते—रहा आता है।

इस प्रकार माया के दुर्लघ्य सम्मोहन को जीतकर योगी स्वरूपसिद्ध स्थिति में रह सकता है। यह माया इस जगत में अपने आपको कार्य-कारण रूप में उपस्थित करती है, अतः इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि माया का सम्मोहन जीव के ज्ञान को आच्छादित कर लेता है और दुर्लघ्य है। किन्तु जो कोई कृष्ण की शरण में जाता है, वह माया के इस दुर्लघ्य सम्मोहन को पार कर सकता है। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि दैवी प्रकृति अर्थात् परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति *दुर्विभाव्या* है अर्थात् उसे समझ पाना तथा जीत पाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु मनुष्य को माया के इस दुर्लघ्य जादू को जीतना होता है और यह तभी सम्भव है

जब भगवान् की कृपा हो तथा जब ईश्वर स्वयं शरणागत जीव को दर्शन दें। यहाँ पर *स्वरूपेणावतिष्ठते* भी कहा गया है। *स्वरूप* का अर्थ है कि जीव को यह जानना होता है कि वह परमात्मा न होकर परमात्मा का अंश है—यही आत्म-साक्षात्कार है। अपने को झूठे ही परमात्मा के रूप में सोचना तथा अपने को सर्वव्यापी समझना *स्वरूप* नहीं है, यह उसकी वास्तविक स्थिति का साक्षात्कार नहीं है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि वह अंशरूप है। यहाँ संस्तुति की गई है कि मनुष्य को वास्तविक आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में बने रहना चाहिए। *भगवद्गीता* में इस समझ को ब्रह्म-साक्षात्कार के रूप में परिभाषित किया गया है।

ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य ब्रह्म के कार्यकलापों में लग सकता है। जब तक वह *स्वरूपसिद्ध* नहीं होता, वह शरीर के साथ झूठी पहचान पर आधारित कार्यों में लगा रहता है। जब वह अपने वास्तविक स्व (आत्म) में स्थित होता है, तभी ब्रह्म-साक्षात्कार के कार्य-कलाप प्रारम्भ होते हैं। मायावादी चिन्तकों का कथन है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद सारे कर्म (कार्यकलाप) रुक जाते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। जब आत्मा पदार्थ के आवरण के भीतर स्थित रह कर, जो कि असामान्य स्थिति है, इतना सक्रिय रह सकता है, तो फिर उसके मुक्त रहने पर उसकी कार्यशीलता से कैसे इनकार किया जा सकता है? यहाँ पर एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है। जब कोई मनुष्य अपनी रुग्ण अवस्था में अत्यधिक सक्रिय हो तो फिर कोई यह कैसे कल्पना कर सकता है कि रोगमुक्त होने की अवस्था में निष्क्रिय होगा? स्वाभाविक है कि जब कोई व्यक्ति रोग से मुक्त होता है, तो उसके कार्यकलाप शुद्ध होते हैं। यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के कार्य बद्ध जीवन के कार्यों से भिन्न होते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५४) में इंगित किया गया है—जब कोई अपने आपको ब्रह्म समझ लेता है, तो भक्ति का शुभारम्भ होता है। *मद्-भक्तिं लभते पराम्*—ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य भगवान् की भक्ति में लग सकता है। अतः भगवान् की भक्ति ब्रह्म-साक्षात्कार का कर्म है।

जो लोग भक्ति में लगे हुए हैं उनके लिए माया का जादू नहीं होता और उनकी स्थिति

परम पूर्ण होती है। पूर्ण के अंशरूप जीवात्मा का धर्म है कि पूर्ण की सेवा करे। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत “भक्ति साधना के लिए कपिल के आदेश” नामक अष्टादशवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।